श्वेताश्वतरोपनिषद्



गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ

श्वेताश्वतरोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९५	प्रथम	संस्करण	३,२५०
सं० २०००	द्वितीय	संस्करण	३,०००
सं० २००९	तृतीय	संस्करण	१०,०००
		कुल	१६,२५०

मूल्य ।।।=) चौदह आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

ॐ

प्रथम संस्करणकी प्रस्तावना

श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत है। इसके वक्ता श्वेताश्वतर ऋषि हैं। उन्होंने चतुर्थाश्रमियोंको इस विद्याका उपदेश किया था। यह बात इस उपनिषद्के षष्ठ अध्यायके इक्कीसवें मन्त्रसे विदित होती है। इस उपनिषद्की विवेचनशैली बड़ी ही सुसम्बद्ध और भावपूर्ण है। इसमें साधन, साध्य, साधक और प्रतिपाद्य विषयके महत्त्वका बहुत स्पष्ट और मार्मिक भाषामें निरूपण किया है। इसमें प्रसंगानुसार सांख्य, योग, सगुण, निर्गुण, द्वैत, अद्वैत आदि कई प्रकारके सिद्धान्तोंका उल्लेख हुआ है। अतः इसके वाक्योंके आधारसे सांख्यवादी और द्वैतमतावलम्बियोंने भी बड़े समारोहसे अपने सिद्धान्तोंका समर्थन किया है।

इसका आरम्भ जगत्के कारणकी मीमांसासे होता है। कुछ ब्रह्मवादी आपसमें मिलकर इस विषयमें विचार करते हैं कि जगत्का कारण क्या है? हम कहाँसे उत्पन्न हुए? किसके द्वारा हम जीवन धारण करते हैं? कौन हमारा आधार है? और किसकी प्रेरणासे हम दुःख-सुख भोग करते हैं? संसारके सम्पूर्ण दार्शनिक इन प्रश्नोंको हल करनेमें ही व्यस्त रहे हैं। और उन्होंने अपनी-अपनी अनुभूतिके आधारपर जो-जो निर्णय किये हैं वे ही विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। वस्तुतः इस प्रकारकी जिज्ञासा ही सारे दर्शनशास्त्रका बीज है और यह जितनी तीव्र एवं निरपेक्ष होती है उतनी ही अधिक वास्तविकताके समीप ले जानेवाली होती है। अस्तु।

ऋषियोंने जगत्के कारणकी मीमांसा करते हुए काल-स्वभावादि लोकप्रसिद्ध कारणोंपर विचार किया; किन्तु उनमेंसे कोई भी उनकी जिज्ञासा शान्त करनेमें सफल न हुआ, उन्हें सभी अपूर्ण और अशाश्वत दिखायी दिये। अन्तमें उन्होंने ध्यानयोगके द्वारा यह अनुभव किया कि भगवान्की स्वरूपभूता माया ही जगत्का कारण है। उन्हें इस संसारसरिताका स्पष्ट दर्शन हुआ और उन्होंने देखा

कि जड-चेतन दोनोंसे परे इनका अधिष्ठाता और प्रेरक जो एक देव है वही अपनी मायाशक्तिसे जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और उसका साक्षात्कार होनेपर ही जीव मायाके चक्रसे मुक्त हो सकता है। उसे कहीं अन्यत्र ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। वह सर्वदा अपने अन्तःकरणमें ही स्थित है। इस अपने अन्तरात्मासे भिन्न कोई और देव नहीं है तथा यही भोक्ता, भोग्य और प्रेरक भी कहा जाता है।

इस प्रकार प्रथम अध्यायमें जगत्कारणका निर्णय कर प्रणवचिन्तन-पूर्वक ध्यानाभ्यासको ही उसके साक्षात्कारका साधन बताया गया है। इसका विशेष विवरण द्वितीय अध्यायमें है। वहाँ ध्यानकी विधि, ध्यानके योग्य स्थान, योगकी प्रथम प्रवृत्ति और उसके फलका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। इस तरह साधनका निरूपण कर फिर तृतीय अध्यायमें साध्यका प्रतिपादन किया है। वहाँ उस एक ही तत्त्वका पहले सगुण-साकाररूपसे, फिर अन्तर्यामी और विराट्‌रूपसे तथा अन्तमें शुद्धरूपसे निरूपण हुआ है। चतुर्थ अध्यायमें तत्त्वबोधकी प्राप्ति और मायासे मुक्त होनेके लिये उस देवकी स्तुति की गयी है तथा अनेक प्रकारसे उसके स्वरूप और महत्त्वका वर्णन किया गया है। पञ्चम अध्यायमें क्षर, अक्षर और इन दोनोंके प्रेरक परमात्माके स्वरूपोंका स्पष्टीकरण हुआ है। वहाँ क्षरका भोग्यत्व, अक्षर (जीव) का भोक्तृत्व और परमात्माका नियन्तृत्व बतलाया गया है तथा यह भी प्रदर्शित किया है कि जीव अपने संकल्पके अनुसार विभिन्न योनियोंको प्राप्त होता है और परमात्माका ज्ञान होनेपर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् छठे अध्यायमें भी परमात्माके स्वरूप और महत्त्वका ही प्रतिपादन करते हुए अन्तमें उसीके ज्ञानसे सारे दुःखोंकी निवृत्ति बतलायी है और यह कहा है कि उस देवको जाने बिना दुःखोंका अन्त होना इसी प्रकार असम्भव है जैसे व्यापक और निरवयव आकाशको चमड़ेके समान लपेटना।

इस प्रकार इस उपनिषद्‌में आदिसे अन्ततक केवल परमार्थतत्त्व-का ही निरूपण हुआ है। फिर अन्तमें एक मन्त्रद्वारा इस विद्याके

सम्प्रदायका और दो मन्त्रोंसे इसके अधिकारीका वर्णन करके उपसंहार किया गया है। यही संक्षेपमें इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस ग्रन्थके वाक्योंके आधारसे सांख्यवादी और द्वैतमतावलम्बियोंने भी अपने सिद्धान्तोंका समर्थन किया है। सांख्यवादियोंके लिये तो इस ग्रन्थके दो वाक्य ही परम प्रमाण हैं। उनमें एक चतुर्थ अध्यायका पञ्चम मन्त्र और दूसरा पञ्चम अध्यायका द्वितीय मन्त्र है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

इस मन्त्रकी लोहितशुक्लकृष्णा अजा ही उनकी रजःसत्त्वतमोमयी प्रकृति है। तथा उसे सेवन करनेवाला अज बद्ध पुरुष है और उसे त्याग देनेवाला दूसरा अज मुक्त पुरुष है। इस मन्त्रको यदि सांख्यवादका बीज कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यही उनके प्रधानकी पोषक एकमात्र श्रुति है। किन्तु भगवान् शंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यमें इस मतका खण्डन करते हुए लोहितशुक्लकृष्णा अजासे त्रिगुणमयी प्रकृति न लेकर छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें बताये हुए पृथिवी, अप्, तेज तीन सूक्ष्म भूत लिये हैं। उनमें पृथिवी कृष्णवर्ण, अप् शुक्लवर्ण, तेज लोहितवर्ण है। इस प्रकार वहाँ आचार्यने अनेकों युक्तियोंसे प्रधानवादका खण्डन किया है।

सांख्यसिद्धान्तका दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

इस मन्त्रके आधारपर सांख्यवादियोंने परमर्षि कपिलकी प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध करके उनके उपदेश किये हुए सांख्य-सिद्धान्तकी पुष्टि की है। किन्तु आचार्यने इस मतका इसी उपनिषद्के भाष्यमें खण्डन किया है और 'कपिल' शब्दको कनकवर्ण हिरण्यगर्भका वाचक बताया है।

इसी प्रकार द्वैतवादियोंने भी इस ग्रन्थके वाक्योंसे अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। यों तो अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये वे इसके कई मन्त्र उद्धृत करते हैं; परन्तु उनमें प्रधान चतुर्थ अध्यायके छठे और सातवें मन्त्र ही हैं। वे इस प्रकार हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

इन मन्त्रोंके द्वारा द्वैतवादी आचार्योंने जीव और ईश्वरका भेद सिद्ध करनेकी चेष्टा की है; परन्तु आचार्यने पूर्वमन्त्रके दो सखा सुवर्ण विज्ञानात्मा और परमात्मा तथा द्वितीय मन्त्रके पुरुष और ईश अविद्याग्रस्त जीव और प्रत्यगात्मा बतलाकर उनका केवल औपाधिक भेद प्रदर्शित करते हुए परमार्थतः एकत्व ही सिद्ध किया है। इस विषयमें शारीरकभाष्यमें भी बड़ा युक्तियुक्त विचार किया गया है।

यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य मतावलम्बियोंके सिद्धान्त सर्वथा अलीक ही हैं। वस्तुतः परमप्रमाणभूता श्रुति और उसके प्रमेय श्रीभगवान् दोनों ही वाञ्छाकल्पतरु हैं। उन्हें जो जिस भावसे भजता है उसे उनकी उसी रूपमें अनुभूति होती है। उनका परमार्थस्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय और मन-बुद्धि आदिका अविषय है; किन्तु जिस रूपमें उनकी अनुभूति होती है उससे भी उनका किसी प्रकारका भेद नहीं है। इसलिये उसके द्वारा भी उन्हींकी झाँकी होती है। वे सर्वरूप हैं, सर्वातीत हैं और सबके साक्षी हैं। बस, एकमात्र वे ही वे हैं। जिसे हम उनसे भिन्न समझते हैं वह भी उन्हींकी प्रतिकृति है। वस्तुतः ऐसा कोई देश, काल या पदार्थ नहीं है जो उनसे भिन्न हो और यों किसी भी देश, काल या पदार्थके द्वारा उनका ग्रहण भी नहीं किया जा सकता; सारे मत उन्हींका प्रतिपादन करते हैं और वस्तुतः वे किसी भी मतके विषय भी नहीं हो सकते। यह

एक विचित्र पहेली है। व्यवहारमें किन्हीं भी दो विरुद्ध धर्मोंका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता; परन्तु यहाँ सारे विरोधोंका समन्वय हो जाता है, क्योंकि वे सर्वाधिष्ठान हैं। यदि यहाँ भी सबका सामञ्जस्य न हुआ तो और हो ही कहाँ सकता है? अस्तु।

इस प्रकार यह उपनिषद् परमार्थतत्त्वके जिज्ञासुओंके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसपर शाङ्करभाष्यके अतिरिक्त श्रीशङ्करानन्दकृत दीपिका, श्रीनारायणविरचित दीपिका और श्रीविज्ञानभगवान्कृत विवरणनामक तीन टीकाएँ और हैं। भगवान् शङ्करकी विवेचनशैली बड़ी ही गम्भीर, प्रसादपूर्ण और युक्तियुक्त होती है। उनके पाण्डित्य और युक्तिकौशलको विपक्षी विद्वान् भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रस्तुत भाष्यमें वह प्रतिभा नहीं देखी जाती। इसमें न वह गाम्भीर्य है, न प्रसाद है और न युक्तिकौशल ही है। इसीसे अधिकांश विद्वानोंका ऐसा मत है कि यह आचार्यकी रचना नहीं है। किन्हीं अन्य मठस्थ शङ्कराचार्यने इसे लिखकर अपने भाष्यकी प्रतिष्ठाके लिये भगवान् भाष्यकारके नामसे प्रसिद्ध कर दिया है। इसके आचार्यकृत न होनेमें और भी कई कारण बताये जाते हैं। परन्तु यहाँ उन्हें उद्धृत करनेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। इस प्रकारकी खोज ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टिसे तो अवश्य बहुत आवश्यक है; परन्तु जिज्ञासुओंका तो मुख्य लक्ष्य अपनी ज्ञानपिपासाकी शान्तिपर ही होना चाहिये। इसकी रचना कैसी ही शिथिल और प्रसादशून्य हो, इसमें कल्याणकामियोंकी शान्तिके लिये पुष्कल सामग्री है। इसलिये इसका अनुशीलन उनके लिये किसी प्रकार अनुपयोगी नहीं हो सकता।

इस उपनिषद्के प्रकाशनसे एक चिरकालिक अभिलाषाकी पूर्तिके कारण मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आजसे प्रायः सात वर्ष पूर्व इन एकादश उपनिषदोंके भाष्यका हिन्दी-अनुवाद करनेका संकल्प हुआ था। भगवत्कृपासे वह संकल्प पूरा हो गया। छान्दोग्यतक नौ उपनिषदोंको प्रकाशित हुए प्रायः दो वर्ष हो गये हैं। बृहदारण्यक

और श्वेताश्वतर शेष थे। इनका अनुवाद भी समाप्त हो गया। प्रचलित क्रमके अनुसार पहले बृहदारण्यक प्रकाशित होना चाहिये था, परन्तु छोटा होनेके कारण पहले श्वेताश्वतरका अनुवाद किया गया और वही पहले प्रकाशित भी हो रहा है। बृहदारण्यककी छपाई भी आरम्भ हो गयी है, आशा है वह भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। इस प्रकार अनुवादके ही बहाने जो यत्किञ्चित् सत्पुरुषोंकी सेवा और सद्ग्रन्थोंका मनन होता है, उससे किसी प्रकार भगवत्कृपाका पात्र बन सकूँ—ऐसा प्रेमी पाठक आशीर्वाद देनेकी कृपा करें।

विनीत

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

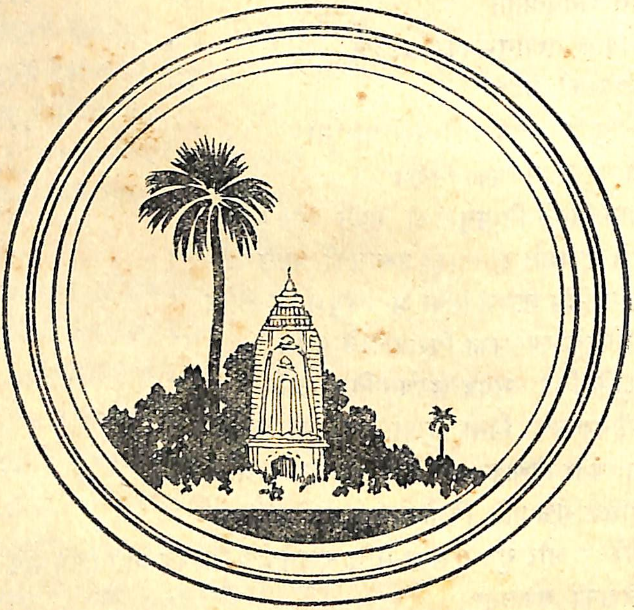
१. शान्तिपाठ १३

प्रथम अध्याय

२. सम्बन्ध-भाष्य १४
३. जगत्-कारण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें ब्रह्मवादी ऋषियोंका विचार ... ६८
४. काल, स्वभाव आदिकी जगत्-कारणताका खण्डन ... ७१
५. ध्यानके द्वारा ऋषियोंको कारणभूता ब्रह्मशक्तिका साक्षात्कार ... ७४
६. कारण-ब्रह्मका चक्ररूपसे वर्णन ८६
७. कार्यब्रह्मका नदीरूपसे वर्णन ९५
८. जीवके संसार-बन्धन और मोक्षके कारणका निर्देश ९७
९. परब्रह्मकी प्राप्तिसे मुक्तिका वर्णन १००
१०. व्यावहारिक भेद और ज्ञानद्वारा मोक्षका प्रदर्शन १०७
११. ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी विलक्षणता तथा उनके तत्त्व-ज्ञानसे मोक्षका कथन ११३
१२. प्रधान और परमेश्वरकी विलक्षणता तथा उनके तत्त्व-ज्ञानसे मोक्षका कथन ११९
१३. ब्रह्मके ज्ञान और ध्यान-जन्य-फलोंमें भेद १२०
१४. ब्रह्मकी ज्ञातव्यता १२७
१५. प्रणव-चिन्तनसे ब्रह्म-साक्षात्कारका दृष्टान्तोंद्वारा समर्थन ... १३०

द्वितीय अध्याय

१६. ध्यानकी सिद्धिके लिये सवितासे अनुज्ञा-प्रार्थना १३६
१७. सविताकी अनुज्ञाके बिना हानि १४३
१८. सविताकी अनुज्ञासे लाभ १४५
१९. ध्यानयोगकी विधि और उसका महत्त्व ... १४७
२०. प्राणायामका क्रम और उसकी महत्ता १४८
२१. ध्यानके लिये उपयुक्त स्थानोंका निर्देश १५४
२२. योगसिद्धिके पूर्वलक्षण १५५
२३. रोग, जरा और अकाल मृत्युपर विजय पानेके चिह्न ... १५७





जगत्कारणमीमांसा

[पृष्ठ ५६

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्वेताश्वतरोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

नित्यानन्दं निराधारं निखिलाधारमव्ययम्।
निगमाद्यगतं नित्यं नीलकण्ठं नमाम्यहम्॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वह परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें। हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनोंका पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

सम्बन्ध-भाष्य

ग्रन्थारम्भ-प्रयोजनम्

श्वेताश्वतरोपनिषद इदं विवरणमल्पग्रन्थं ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते । चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाविद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया प्रतिबद्धस्वाभाविकाशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थोऽविद्यापरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिं चापुरुषार्थं पुरुषार्थं मन्यमानो मोक्षार्थमलभमानो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभेदितनानायोनिषु संचरन्केनापि सुकृतकर्मणा ब्राह्मणाद्यधिकारिशरीरं प्राप्त ईश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलो-

ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासुओंको सरलतासे बोध करानेके लिये यह श्वेताश्वतरोपनिषद्‌की व्याख्या छोटे-से ग्रन्थके रूपमें आरम्भ की जाती है । यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप ही है, तथापि अपने ही आश्रित रहनेवाली, अपनेहीको विषय करनेवाली और ['मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार] अपने अनुभवसे ही ज्ञात होनेवाली चिदाभासयुक्त अविद्यासे उस (जीवात्मा) के सब प्रकारके स्वाभाविक पुरुषार्थका अवरोध हो जानेसे उसे सम्पूर्ण अनर्थकी प्राप्ति हुई है और वह अज्ञानवश कल्पना किये हुए ही साधनोंसे अपनी इष्टप्राप्तिरूप अपुरुषार्थको ही पुरुषार्थ मानकर परमपुरुषार्थरूप मोक्षपद प्राप्त न कर सकनेके कारण मकरादिके समान रागादि दोषोंसे इधर-उधर खींचा जाकर देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् आदि विभिन्न भेदोंसे युक्त अनेकों योनियोंमें विचरता रहता है । जब किसी पुण्यकर्मके द्वारा ब्रह्मविद्याका अधिकारी ब्राह्मणादि शरीर प्राप्तकर वह ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान करनेसे रागादि मलोंसे

ऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थभोगविराग उपेत्याचार्यमाचार्यद्वारेण वेदान्तश्रवणादिनाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति । अविद्यानिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य विद्याधीनत्वाद्युज्यते च तदर्थोपनिषदारम्भः ।

आत्मज्ञानस्य माहात्म्यम्

तथा तद्विज्ञानादमृतत्वम् । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।" (नृसिंहपूर्व० १ । ६) "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ६ । १५) । "न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (के० उ० २ । ५) । "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (बृ० उ० ४ । ४ । १४) । "किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्" (बृ० उ० ४ । ४ । १२) । "तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) "निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।" (क०

मुक्त और वस्तुओंका अनित्यत्वादि देखनेसे ऐहिक और पारलौकिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है । तब आचार्यके पास जाकर उनके द्वारा वेदान्तश्रवणादि करके 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर वह अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेके कारण शोकरहित हो जाता है । क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानके अधीन है, इसलिये ज्ञान ही जिसका प्रयोजन है उस उपनिषद्का आरम्भ करना उचित ही है ।

तथा उस (ब्रह्मात्मतत्त्व)के ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त होता है । "उसको जाननेवाला इस लोकमें अमृत (मुक्त) हो जाता है", "मोक्षप्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "यदि यहाँ उसे न जाना तो बड़ी भारी हानि है", "जो इसे जानते हैं अमर हो जाते हैं", "[यदि पुरुष 'यह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा जान ले तो वह] क्या इच्छा करता हुआ किस कामके लिये शरीरके पीछे सन्तप्त हो", "उसे जान लेनेपर जीव पापकर्मसे लिप्त नहीं होता", "आत्मज्ञानी शोकके पार हो जाता है," "उसका अनुभव कर लेनेपर मृत्युके मुखसे छूट जाता है", "इसे जो

उ० १ । ३ । १५) "एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" (मु० उ० २ । १ । १०) ।

"भिद्यते हृदयग्रन्थि-
श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"
(मु० उ० २ । २ । ८)

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥"
(मु० उ० ३ । २ । ८)

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३ । २ । ९) "स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य" (प्र० उ० ४ । १०) । "स सर्वमवैति ।" "तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः" (प्र० उ० ६ । ६) । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७) । "विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा० ११) । "भूतेषु भूतेषु

बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ जानता है, हे सोम्य ! वह अविद्यारूप ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न कर देता है", "उस परावर (ब्रह्मादि देवताओंसे भी उत्तम) परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इसके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं", "जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम और रूपको छोड़कर समुद्रमें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूपसे मुक्त होकर परसे भी पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है", "वह जो कि उस परब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है", "हे सोम्य ! जो भी उस छायाहीन, अशरीर, अलोहित, शुद्ध अक्षर ब्रह्मको जानता है [वह सर्वज्ञ हो जाता है]" "वह सब कुछ जानता है", "उस जाननेयोग्य पुरुषको जान, जिससे मृत्यु तुझे व्यथित न करे", "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" "ज्ञानसे अमरत्वको प्राप्त होता है", "बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोंमें

विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।" (के० उ० २ । ५) "अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति" (के० उ० ४ । ९) । "तन्मया अमृता वै बभूवुः" (श्वेता० उ० ५ । ६) । "तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः" (श्वेता० उ० २ । १४) । "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (बृ० उ० ४ । ४ । १४) । "ईशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति" (श्वेता० उ० ३ । ७) । "तदेवोपयन्ति" । "निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" (क० उ० १ । १ । १७) । "तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" (श्वेता० उ० ४ । १५) । "ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तं विदुः" (श्वेता० उ० ५ । ६) । "तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" (क० उ० २ । २ । १३) ।

"बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते ।"
(गीता २ । ५०)

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि

उपलब्धकर [मृत्युके पश्चात्] इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं", "[जो परात्मविद्याको जानता है वह] पापको त्यागकर विनाशरहित सुखमय स्वयं-प्रकाश परम महान् ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है"; "वे ब्रह्मस्वरूप होकर निश्चय ही अमर हो गये", "उस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर कोई देहधारी जीव कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है", "जो इसे जानते हैं, अमर हो जाते हैं", "उस ईश्वरको जानकर अमर हो जाते हैं", "उसीको प्राप्त होते हैं", "इसे अनुभव करके जीव परमशान्ति प्राप्त करता है", "उसे इस प्रकार जानकर यह मृत्युके बन्धनोंको काट देता है", "पूर्वकालमें जिन देवता और ऋषियोंने उसे जाना [वे अमर हो गये]", "[अपनी बुद्धिमें स्थित उन परमात्माको जो देखते हैं] उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है औरोंको नहीं ।"

"समत्वयोगविषयक बुद्धिसे युक्त हुआ पुरुष [ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा] पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है", 'समत्वबुद्धिसे युक्त

फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥"
(गीता २ । ५१)
"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव
वृजिनं संतरिष्यसि ।"
"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा ।"
(गीता ४ । ३६-३७)
"एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्या-
त्कृतकृत्यश्च भारत ।"
(गीता १५ । २०)
"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनन्तरम् ।"
(गीता १८ । ५५)
"सर्वेषामपि चैतेषा-
मात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां
प्राप्यते ह्यमृतं यतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि
द्विजो भवति नान्यथा ॥
एवं यः सर्वभूतेषु
पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः
कर्मभिर्न निबध्यते ।

पुरुष कर्मजनित फल (इष्टानिष्ट देहकी प्राप्ति) को त्यागकर ज्ञानी हो जीते-जी जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर समस्त उपद्रवोंसे रहित मोक्ष-नामक परमपद प्राप्त करते हैं" "तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा ही सम्पूर्ण पापोंके पार हो जायगा", "उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म (निर्बीज) कर देता है", "हे भारत ! इस गुह्यतम शास्त्रको जानकर ही मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है", "फिर मुझे तत्त्वतः जानकर तत्काल मुझहीमें प्रवेश कर जाता है", "इन सब साधनोंमें आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट माना गया है तथा सम्पूर्ण विद्याओंमें भी वही सबसे बढ़कर है, क्योंकि उससे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है । इसे प्राप्त कर लेनेपर ही द्विज कृत-कृत्य होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं । इस प्रकार जो मन-ही-मन सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको ही देखता है वह सबमें साम्यबुद्धिको प्राप्त करके सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तथा सम्यग्दृष्टिसे सम्पन्न होनेके कारण वह कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त

दर्शनेन विहीनस्तु
संसारं प्रतिपद्यते ॥"
"कर्मणा बध्यते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः ॥
ज्ञानं निःश्रेयसं प्राहु-
र्वृद्धा निश्चयदर्शिनः ।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन
मुच्यते सर्वपातकैः ॥"
"एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यम्।
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था-
स्तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥"
"क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञाना-
द्विशुद्धिः परमा मता ।"
"अयं तु परमो धर्मो
यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥"
"आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो
न बिभेति कुतश्चन ।
मृत्योः सकाशान्मरणा-
दथवान्यकृताद्भयात् ॥"
"न जायते न म्रियते
न वध्यो न च घातकः ।
न बध्यो बन्धकारी वा
न मुक्तो न च मोक्षदः ॥
पुरुषः परमात्मा तु
यदतोऽन्यदसच्च तत् ।"

नहीं होता । जो पुरुष इस दृष्टिसे रहित है वह संसारको प्राप्त होता है", "जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते । स्थिरबुद्धि प्राचीन आचार्योंने ज्ञानको ही मोक्षका साधन बतलाया है, अतः शुद्ध ज्ञानसे जीव सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है", "इस प्रकार मृत्युको अवश्य होनेवाली जानकर विद्वान् ज्ञानके द्वारा नित्य तेजः-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, इसके सिवा उसके लिये कोई और मार्ग नहीं है, उसे जान लेनेपर विद्वान् प्रसन्नचित्त हो जाता है" "परमात्माके ज्ञानसे जीवकी आत्यन्तिकी शुद्धि मानी गयी है", "योगसाधनके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करना—यही परमधर्म है", "आत्मज्ञानी शोकसे पार होकर मृत्यु, मरण अथवा किसी अन्य कारणसे होनेवाले भय—इनमेंसे किसीसे भी नहीं डरता", "परमात्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न मारा जाता है और न मारता है, वह न तो बाँधा जानेवाला है और न बाँधनेवाला है तथा न मुक्त है और न मोक्षप्रद ही है, उससे भिन्न जो कुछ है वह असत् ही है ।"

एवं श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमा-द्युज्यत एवोपनिषदारम्भः ।

किंचोपनिषत्समाख्ययैव ज्ञान-स्यैव परमपुरुषार्थ-साधनत्वमव-गम्यते । तथा हि-उपनिषदित्युपनिपूर्वस्य सदेर्वि-शरणगत्यवसादनार्थस्य रूपमा-चक्षते । उपनिषच्छब्देन व्याचि-ख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । तादर्थ्याद्ग्रन्थोऽप्यु-पनिषत् । ये मुमुक्षवो दृष्टानु-श्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उप-निषच्छब्दितविद्यां तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषाम-विद्यादेः संसारबीजस्य विशरणा-द्विनाशात्परब्रह्मगमयितृत्वाद्गर्भ-जन्मजरामरणाद्युपद्रवावसादयितृ-

उपनिषत्समाख्ययापि ज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वम्

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और इतिहासादिमें ज्ञान ही मोक्षका साधन जाना जाता है, अतः इस [ज्ञान-साधक] उपनिषद्को आरम्भ करना उचित ही है ।

इसके सिवा उपनिषद् नामसे भी ज्ञानका ही परमपुरुषार्थमें साधन होना जाना जाता है । जाननेका प्रकार यह है--'उपनिषद्'-यह उप और नि उपसर्गपूर्वक विशरण, विनाश, गति और अवसादन (अन्त) अर्थवाले सद् धातुका रूप बतलाया जाता है । उपनिषद् शब्दसे, हम जिस ग्रन्थकी व्याख्या करना चाहते हैं उसके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तुको विषय करनेवाले ज्ञानका कथन होता है । उस ज्ञानकी प्राप्ति ही इसका प्रयोजन है इसलिये यह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है । जो मोक्षकामी पुरुष दृष्ट और श्रुत विषयसे विरक्त हो उपनिषद् शब्दसे कही जानेवाली विद्याका निश्चयपूर्वक तत्परतासे अनुशीलन करते हैं उनकी संसारकी बीजभूता अविद्यादि-का विशरण—विनाश हो जानेके कारण, उन्हें परब्रह्मके पास ले जानेके कारण और उनके जन्म-मरणादि उपद्रवोंका अवसादन (अन्त)

त्वादुपनिषत्समाख्ययाप्यन्यकृतात्परं श्रेय इति ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते ।

कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वमित्याक्षेपः

ननु भवेदेवमुपनिषदारम्भो यदि विज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं भवेत् । न चैतदस्ति । कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्—"अपाम सोमममृता अभूम ।" "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिना ।

उक्ताक्षेपनिरासः

न त्वेतदस्ति, श्रुतिस्मृतिविरोधान्न्यायविरोधाच्च । श्रुतिविरोधस्तावत्—"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" (छा० उ० ८ । १ । ६) । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृसिंहपूर्व० १ । १६) "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० उ० ६ । १५)

करनेके कारण यह उपनिषद् है; इस प्रकार नामसे भी अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा परम श्रेयस्कर होनेके कारण ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' कही जाती है ।

पूर्व०—यदि विज्ञान ही मोक्षका साधन होता तो इस प्रकार (इस उद्देश्यसे) उपनिषद्का आरम्भ किया जा सकता था; किन्तु ऐसी बात है नहीं; क्योंकि "हमने सोमपान किया है, अतः हम अमर हो गये हैं", "चातुर्मास्ययाग करनेवालेका पुण्य अक्षय होता है" इत्यादि वाक्योंसे कर्मोंका भी मोक्षसाधनत्व स्वीकार किया गया है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे श्रुति-स्मृतियोंका विरोध है और यह युक्तिसे भी विरुद्ध है । श्रुतिका विरोध तो इस प्रकार है—"जिस प्रकार यह कर्मद्वारा उपार्जित लोक क्षीण हो जाता है उसी प्रकार वह पुण्यद्वारा प्राप्त लोक भी क्षीण हो जाता है", "उसीको जाननेवाला पुरुष इस लोकमें अमर हो जाता है", "मोक्षप्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "कर्म, प्रजा अथवा धनसे

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैव० ३)। "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति" (मु० उ० १।२।७)। "नास्त्यकृतः कृतेन" (मु० उ० १। २।१२)।

"कर्मणा बध्यते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः ॥"

"अज्ञानमलपूर्णत्वात्
पुराणो मलिनः स्मृतः।
तत्क्षयाद्धि भवेन्मुक्ति-
र्नान्यथा कर्मकोटिभिः ॥"

"प्रजया कर्मणा मुक्ति-
र्धनेन च सतां न हि।
त्यागेनैकेन मुक्तिः स्या-
त्तदभावे भ्रमन्त्यहो ॥"

"कर्मोदये कर्मफलानुरागा-स्तथानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्"

नहीं, किन्हीं-किन्हींने त्यागसे ही अमरत्व प्राप्त किया है", "जिनपर ज्ञानकी अपेक्षा निकृष्ट श्रेणीका कर्म अवलम्बित कहा गया है वे [सोलह ऋत्विक्, यजमान और यजमानपत्नी—] ये यज्ञके अठारह रूप अस्थिर एवं नाशवान् हैं; जो मूढ 'यही श्रेय है' ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं वे फिर भी जरा-मरणको प्राप्त होते हैं", "इस संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है, अतः [अनित्य फलके साधक] कर्मसे हमें क्या प्रयोजन है ?"

[अब स्मृतिका विरोध दिखलाते हैं—] "जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है; इसीसे पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते", "अज्ञानरूपी मलसे पूर्ण होनेके कारण यह पुरातन जीव मलिन माना जाता है, उस मलका क्षय होनेसे ही इसकी मुक्ति होती है, अन्यथा करोड़ों कर्मोंसे भी इसका छुटकारा नहीं हो सकता", "सत्पुरुषोंकी मुक्ति प्रजा, कर्म अथवा धनसे नहीं होती, एकमात्र त्यागसे ही होती है; त्याग न होनेपर तो वे भटकते ही रहते हैं", "कर्मका उदय होनेपर उसके फलमें अनुराग होता है, अतः उसीका अनुगमन करते हैं, मृत्युको पार नहीं कर पाते",

"ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः ॥"
"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।"
(गीता ९ । २१)
"श्रमार्थमाश्रमाश्चापि
वर्णानां परमार्थतः ॥"
"आश्रमैर्न च वेदैश्च
यज्ञैः सांख्यैर्व्रतैस्तथा ।
उग्रैस्तपोभिर्विविधै-
र्दानैर्नानाविधैरपि ।
न लभन्ते तमात्मानं
लभन्ते ज्ञानिनः स्वयम् ॥"
"त्रयीधर्ममधर्मार्थं
किंपाकफलसंनिभम् ।
नास्ति तात सुखं किञ्चि-
दत्र दुःखशताकुले ॥
तस्मान्मोक्षाय यतता
कथं सेव्या मया त्रयी ।"
"अज्ञानपाशबद्धत्वा-
दमुक्तः पुरुषः स्मृतः ॥
ज्ञानात्तस्य निवृत्तिः स्या-

"ज्ञानके द्वारा विद्वान् नित्य प्रकाशको प्राप्त होता है, इसके सिवा उसका कोई और मार्ग नहीं है," "इस प्रकार केवल त्रयीधर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहनेवाले सकाम पुरुष आवागमनको प्राप्त होते हैं", "वस्तुतः तो ब्राह्मणादि वर्णोंके ब्रह्मचर्यादि आश्रम भी केवल श्रमके ही लिये हैं", "आश्रमोंसे, वेदोंसे, यज्ञोंसे, सांख्यसे, व्रतोंसे, नाना प्रकारकी भीषण तपस्याओंसे और अनेकों प्रकारके दानोंसे लोग उस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकते; किन्तु ज्ञानी उसे स्वतः प्राप्त कर लेते हैं", "त्रयीधर्म अधर्मका ही हेतु होता है, यह किंपाक[1] (सेमर) फलके समान है । हे तात ! सैकड़ों दुःखोंसे पूर्ण इस कर्मकाण्डमें कुछ भी सुख नहीं है, अतः मोक्षके लिये प्रयत्न करनेवाला मैं त्रयीधर्मका किस प्रकार सेवन कर सकता हूँ", "अज्ञानरूपी बन्धनसे बँधा होनेके कारण जीव अमुक्त माना गया है; उस बन्धनकी निवृत्ति ज्ञानसे हो सकती है, जिस प्रकार कि प्रकाशसे

१. यह फल देखनेमें बहुत सुन्दर होता है, परन्तु इसमें कोई सार नहीं होता ।

त्प्रकाशात्तमसो यथा ।
तस्माज्ज्ञानेन मुक्तिः स्या-
दज्ञानस्य परिक्षयात् ॥"
"व्रतानि दानानि तपांसि यज्ञाः
सत्यं च तीर्थाश्रमकर्मयोगाः ।
स्वर्गार्थमेवाशुभमध्रुवं च
ज्ञानं ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम् ॥"
"यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति
तपोभिर्ब्रह्मणः पदम् ।
दानेन विविधान्भोगा-
ञ्ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥"
"धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं
पापरज्ज्वा व्रजेदधः ।
द्वयं ज्ञानासिना छित्त्वा
विदेहः शान्तिमृच्छति ॥"
"त्यज धर्ममधर्मं च
उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा
येन त्यजसि तत्त्यज ॥"

एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्मसाधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च । कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विध-

अन्धकारकी । अतः अज्ञानका पूर्णतया क्षय होनेपर ज्ञानसे ही मुक्ति होती है," "व्रत, दान, तप, यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम और कर्मयोग-ये सब स्वर्गके ही हेतु हैं, अतः अशुभ (अकल्याणकर) और अनित्य हैं । किन्तु ज्ञान नित्य, शान्तिकारक और परमार्थस्वरूप है", "मनुष्य यज्ञोंके द्वारा देवत्व प्राप्त करता है, तपस्यासे ब्रह्मलोक पाता है, दानसे तरह-तरहके भोग प्राप्त करता है और ज्ञानसे मोक्षपद पाता है", "धर्मकी रस्सीसे पुरुष ऊपरकी ओर जाता है और पापरज्जुसे अधोगतिको प्राप्त होता है, परन्तु जो इन दोनोंको ज्ञानरूप खड्गसे काट देता है वह देहाभिमानसे रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है", "धर्म-अधर्म दोनोंका त्याग करो तथा सत्-असत् दोनोंहीसे मुख मोड़ लो, इस प्रकार सत्-असत् दोनोंकी आस्था छोड़कर जिस (त्यागाभिमान) के द्वारा उनका त्याग करते हो उसे भी त्याग दो ।"

इस प्रकार श्रुति और स्मृतियोंसे विरोध होनेके कारण तथा युक्तिसे भी विरुद्ध होनेसे अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है । यदि उसे कर्मसाध्य माना जायगा तो मोक्ष भी चार प्रकारकी

क्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात्। यत्कृतकं तदनित्यमिति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात्। नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभिरभ्युपगम्यते। तथा च श्रुतिश्चातुर्मास्यप्रकरणे—प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतमिति। किंच, सुकृतमिति सुकृतस्याक्षयत्वमुच्यते। सुकृतशब्दश्च कर्मणि।

नन्वेवं तर्हि कर्मणां देवादिप्राप्तिहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वमेव।

सत्यम्, स्वतो बन्धहेतुत्वमेव। तथा च श्रुतिः—"कर्मणा

क्रियाओंके अन्तर्गत होनेसे अनित्य हो जायगा; क्योंकि 'जो क्रियासाध्य होता है वह अनित्य होता है, इस नियमके अनुसार क्रियासाध्य वस्तुकी नित्यता नहीं देखी जाती। किन्तु मोक्षको तो सभी सिद्धान्तवालोंने नित्य माना है। चातुर्मास्ययोगके प्रकरणमें ऐसी श्रुति भी है कि "हे मर्त्य! तू पुनः पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, यही तेरा अमरत्व है।" तथा "सुकृतम्" (अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति) इस श्रुतिमें सुकृतका अक्षयत्व बतलाया गया है और 'सुकृत' शब्द कर्मके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

शंका—तब इस प्रकार तो देवत्वादिकी प्राप्तिके हेतु होनेसे कर्म बन्धनके ही कारण सिद्ध होते हैं?

समाधान—सचमुच, स्वयं तो वे बन्धनके ही कारण हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"कर्मसे

१. उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य—ये चार प्रकारके क्रियाफल हैं। जब कोई अविद्यमान वस्तु क्रियाद्वारा उत्पन्न की जाती है तो उसे उत्पाद्य कहते हैं, जैसे घट, पट आदि। एक वस्तुको दूसरे रूपमें परिणत करनेपर जो फल प्राप्त होता है उसे विकार्य कहते हैं जैसे हारको गलाकर उसका कङ्कण बना दिया जाय। दोषको हटाना और गुणको प्रकट कर देना संस्कार्य है जैसे किसी दर्पणको घिसकर उसका मैल हटा दिया जाय और उसमें चमक पैदा कर दी जाय। किसी अप्राप्य वस्तुको क्रियाद्वारा प्राप्त करना यह प्राप्य क्रियाफल है; जैसे गमनक्रियाके द्वारा किसी ग्रामविशेषमें पहुँचना।

पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) । "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा० उ० २ । २३ । १) "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १ । २ । १०) ।

"एवं कर्मसु निःस्नेहा
ये केचित्पारदर्शिनः ।"
"विद्यामयोऽयं पुरुषो
न तु कर्ममयः स्मृतः ।।"
"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते"
(गीता ९ । २१)
इति ।

यदा पुनः फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन्ति तदा मोक्षसाधनज्ञानसाधनान्तःकरणशुद्धिसाधनपारम्पर्येण मोक्षसाधनं भवति । तथाह भगवान्—

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि

पितृलोक प्राप्त होता है", "ये सब पुण्यलोकोंके ही भागी होते हैं", "इष्ट और पूर्तकर्मोंको ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाले मूढ़ पुरुष किसी अन्य श्रेयःसाधनको नहीं जानते; वे लोग स्वर्गलोकके उच्च स्थानमें अपने पुण्यकर्मके उपभोगके लिये प्राप्त दिव्य देहमें पुण्यफल भोगकर इस मनुष्यलोकमें या इससे भी निकृष्ट लोक (पशु-पक्षी आदि योनि अथवा नरक)में प्रवेश करते हैं", "इस प्रकार जो कोई कर्मोंमें अनासक्त होते हैं वे ही पारदर्शी होते हैं", "यह पुरुष ज्ञानस्वरूप है, यह कर्मप्रधान नहीं माना जाता", "इस प्रकार त्रयीधर्म (केवल वैदिक कर्म) में तत्पर रहनेवाले सकाम पुरुष आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं" इत्यादि ।

किन्तु जब कोई पुरुष फलकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌के लिये ही कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं तो वे मोक्षके साधन ज्ञानकी साधनभूता अन्तःकरण-शुद्धिके साधन होकर परम्परासे मोक्षके साधन होते हैं । ऐसा ही भगवान्‌ने कहा है—

"जो पुरुष [कर्मफलकी] आसक्ति छोड़कर भगवान्‌के समर्पण-

सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या
केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥"
(गीता ५ । १०-११)
"यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा
विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥"
(गीता ९ । २७-२८)
इति ।

पूर्वक कर्म करता है वह जलसे कमलके पत्तेके समान [उस कर्मके शुभाशुभ फलरूप] पापसे लिप्त नहीं होता", "योगीलोग फलविषयक आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं", "हे कुन्तीनन्दन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ [श्रौत या स्मार्तयज्ञरूप] हवन करते हो, जो कुछ तप करते हो और जो कुछ दान देते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो । ऐसा करनेसे तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे और संन्यासयोगसे युक्त हो जीते-जी ही कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर देह-पात होनेके बाद मुझे ही प्राप्त होगे", इत्यादि ।

तथा च मोक्षे क्रमं शुद्ध्यभावे मोक्षाभावं कर्मभिश्च तच्छुद्धिं दर्शयति श्रीविष्णुधर्मे—
"अनूचानस्ततो यज्वा
कर्मन्यासी ततः परम् ।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति
योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् ॥"

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें भी मोक्षमें क्रम, चित्तशुद्धिके अभावमें मोक्ष न होना और कर्मोंके द्वारा चित्तकी शुद्धि होना—ये सब दिखाये गये हैं—"योगी पहले वेदाध्यायी, फिर यज्ञकर्ता, तत्पश्चात् कर्मसंन्यासी और फिर ज्ञानित्व प्राप्त करता है इस प्रकार वह क्रमशः मुक्तिलाभ करता है",

"अनेकजन्मसंसार-
चिते पापसमुच्चये ।
नाक्षीणे जायते पुंसां
गोविन्दाभिमुखी मतिः ॥"
"जन्मान्तरसहस्रेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां
कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥"
"पापकर्माशयो ह्यत्र
महामुक्तिविरोधकृत् ।
तस्यैव शमने यत्नः
कार्यः संसारभीरुणा ॥"
"सुवर्णादिमहादान-
पुण्यतीर्थावगाहनैः ।
शारीरैश्च महाक्लेशैः
शास्त्रोक्तैस्तच्छमो भवेत् ॥"
"देवताश्रुतिसच्छास्त्र-
श्रवणैः पुण्यदर्शनैः ।
गुरुशुश्रूषणैश्चैव
पापबन्धः प्रशाम्यति ॥"

याज्ञवल्क्योऽपि शुद्धयपेक्षां तत्साधनं च दर्शयति—

"कर्तव्याशयशुद्धिस्तु
भिक्षुकेण विशेषतः ।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वा-
त्स्वतन्त्रीकरणाय च ॥
(याज्ञ० यतिधर्म० ६२)
मलिनो हि यथादर्शो
रूपालोकस्य न क्षमः ।

"जबतक अनेकों जन्मके सांसारिक संसर्गसे सञ्चित हुआ पापपुञ्ज क्षीण नहीं होता तबतक लोगोंकी बुद्धि भगवान्‌की ओर प्रवृत्त नहीं होती ।" "हजारों जन्मोंके पीछे तपस्या, ज्ञान और समाधिके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं उन्हीं लोगोंकी भगवान् कृष्णमें भक्ति होती है ।" "इस लोकमें पापकर्मोंका संस्कार ही आत्यन्तिकी मुक्तिका विरोधी है; अतः संसारसे डरनेवाले पुरुषको उसीके नाशका प्रयत्न करना चाहिये ।" "सुवर्णदानादि बड़े-बड़े दानोंसे, पवित्र तीर्थोंमें स्नान करनेसे और शास्त्रानुकूल शारीरिक महान् कष्टोंके सहनसे उसका नाश हो सकता है ।" "देवाराधन, श्रुति और सच्छास्त्रोंके श्रवण, पवित्र तीर्थस्थानोंके दर्शन और गुरुकी सेवा करनेसे भी पापका बन्धन निवृत्त हो जाता है ।"

याज्ञवल्क्यजी भी ज्ञानमें चित्त-शुद्धिकी अपेक्षा और उसके साधन प्रदर्शित करते हैं—"ज्ञानोत्पत्तिकी हेतु होनेसे भिक्षुको स्वतन्त्रता (मुक्ति) प्राप्त करनेके लिये विशेषरूपसे चित्तकी शुद्धि ही करनी चाहिये । जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना रूप ही देखा जा सकता उसी

तथाविपक्वकरण
आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥"
(याज्ञ० यतिधर्म० १४१)
"आचार्योपासनं वेद-
शास्त्रार्थस्य विवेकिता ।
सत्कर्मणामनुष्ठानं
सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः
सर्वभूतात्मदर्शनम् ।
त्यागः परिग्रहाणां च
जीर्णकाषायधारणम् ॥
विषयेन्द्रियसंरोध-
स्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ।
शरीरपरिसंख्यानं
प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥
नीरजस्तमसा सत्त्व-
शुद्धिर्निःस्पृहता शमः ।
एतैरुपायैः संशुद्ध-
सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥"
(याज्ञ० यतिधर्म० १५६–१५९)
"यतो वेदाः पुराणानि
विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि

प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनारहित) नहीं है वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं रखता ।" [अब चित्तशुद्धिके साधन बतलाते हैं— "गुरुसेवा, वेद और शास्त्रके तात्पर्यका विवेचन, शुभकर्मों-का आचरण, सत्पुरुषोंका संग, अच्छी वाणी बोलना, स्त्रीमात्रके दर्शन और स्पर्शका त्याग, समस्त प्राणियोंमें आत्मदृष्टि करना, परिग्रहका त्याग, पुराने काषाय वस्त्र धारण करना, विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको रोकना, तन्द्रा और आलस्यको त्यागना, देहतत्त्वका विचार, प्रवृत्तिमें दोष-दर्शन, रजोगुण और तमोगुणके त्यागद्वारा सत्त्वगुणको बढ़ाना, किसी प्रकारकी इच्छा न करना और मनोनिग्रह—इन उपायोंके द्वारा जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है वह योगी अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है" "वेद, पुराण, ज्ञानमय उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य[1] तथा और भी जहाँ-कहीं

---

१. भाष्यका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

सूत्रस्थं पदमादाय पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

जिसमें कि सूत्रके पदोंको लेकर तदनुकूल अन्य पद [अर्थात् उनके पर्याय-

यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित्॥
वेदानुवचनं यज्ञो
ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्य-
मात्मनो ज्ञानहेतवः॥"
(याज्ञ० यति० १८९-१९०)

तथा चाथर्वणे विशुद्धयपेक्ष-मात्मज्ञानं दर्शयति—

"जन्मान्तरसहस्रेषु
यदा क्षीणास्तु किल्बिषाः॥
तदा पश्यन्ति योगेन
संसारोच्छेदनं महत्॥"
(योगशिख० १। ७८-७९)

"यस्मिन्विशुद्धे विरजे च चित्ते य आत्मवत्पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृ० उ० ४। ४। २२) इति बृहदारण्यके विविदिषाहेतुत्वं यज्ञादीनां दर्शयति।

जो कुछ शास्त्र हैं वे सब एवं वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रियदमन, श्रद्धा, उपवास और स्वतन्त्रता (दूसरे किसीकी आशा न रखना) ये सब आत्मज्ञानके साधन हैं।"

इसी प्रकार अथर्ववेदीय उपनिषद्में भी 'आत्मज्ञान चित्तशुद्धिकी अपेक्षा रखनेवाला है।' यह दिखलाते हैं— "जिस समय सहस्रों जन्मोंके अनन्तर पाप क्षीण हो जाते हैं उसी समय पुरुष योगके द्वारा संसारका उच्छेद करनेवाला [ज्ञानरूप] महान् साधन देख पाते हैं।" "जिस चित्तके शुद्ध और निर्मल हो जानेपर जिनके दोष क्षीण हो गये हैं वे यतिजन सम्पूर्ण भूतोंका आत्मस्वरूप ही देखते हैं।" बृहदारण्यकमें भी "उस इस आत्माको ब्राह्मणगण वेद-पाठ, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं" इस वाक्यद्वारा श्रुति यज्ञादिको जिज्ञासाका हेतु प्रदर्शित करती है।

वाचक शब्द] और कुछ स्वाभिमत पद रहते हैं उसे भाष्यका लक्षण जाननेवाले 'भाष्य' मानते हैं।

कर्मणामप्यमृतत्वहेतुत्वम्

ननु "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह" (ईशा० उ० ११)। "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्।" इत्यादिना कर्मणामप्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वमवगम्यते।

पूर्व०—किन्तु "जो विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनोंको साथ-साथ जानता है", "तप और ज्ञान ये ब्राह्मणके निःश्रेयसके उत्कृष्ट साधन हैं" इत्यादि वाक्योंसे तो कर्मोंका भी अमृतत्वकी प्राप्तिमें हेतु होना जान पड़ता है ?

तच्च तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न साक्षात्

सत्यम्, अवगम्यत एव तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न च साक्षात्। तथा हि—"विद्यां चाविद्यां च" (ईशा० उ० ११)। "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्।" इत्यादिना ज्ञानकर्मणोर्निःश्रेयसहेतुत्वमभिधाय कथमनयोस्तद्धेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।" "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा० उ० ११) इति वाक्यशेषेण कर्मणः कल्मषक्षयहेतुत्वं विद्याया अमृतप्राप्तिहेतुत्वं प्रदर्शितम्। यत्र तु शुद्ध्याद्यवान्तरकार्यानुपदेशस्तत्रापि शाखान्तरोपसंहारन्यायेनो-

सिद्धान्ती—ठीक है, जान तो पड़ता ही है; परन्तु ज्ञानके लिये अपेक्षित चित्तशुद्धिके द्वारा ही कर्मका अमृतत्वमें हेतुत्व है, साक्षात् नहीं। इसीसे "विद्यां चाविद्यां च" तथा "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्" इत्यादि वाक्योंसे ज्ञान और कर्मका निःश्रेयसमें हेतुत्व बतलाकर ऐसी जिज्ञासा होनेपर कि ये किस प्रकार उसके हेतु हैं—"तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते"* और "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"† इन वाक्यशेषोंसे कर्मका पापक्षयमें कारणत्व और ज्ञानका अमृतत्वप्राप्तिमें हेतुत्व प्रदर्शित किया है। और भी जहाँ-कहीं शुद्धि आदि अन्य कर्मोंका उपदेश दिखायी न दे वहाँ भी शाखान्तरोपसंहारन्यायसे‡

* तपसे पाप नष्ट करता है और ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है।

† कर्मसे [संसाररूप] मृत्युको पार करके ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है।

‡ जहाँ एक ही जातिके कर्म या उपासनाका वेदकी विभिन्न शाखाओंमें वर्णन

पसंहारः कर्तव्यः ।

विद्याया मोक्षसाधनत्वमाक्षिपति

ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (ईशा० उ० २) इति यावज्जीवकर्मानुष्ठाननियमे सति कथं विद्याया मोक्षसाधनत्वम्?

आक्षेपं परिहरति

उच्यते—कर्मण्यधिकृतस्यायं नियमो नानधिकृतस्यानियोज्यस्य ब्रह्मवादिनः । तथा च विदुषः कर्मानधिकारं दर्शयति श्रुतिः—"नैतद्विद्वानृषिणा विधेयो न रुध्यते विधिना शब्दचारः ।" "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे ।" "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं

उसका उपसंहार (संग्रह) कर लेना चाहिये ।

पूर्व०—किन्तु "कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे" ऐसा जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठानका नियम रहते हुए ज्ञान मोक्षका साधन कैसे माना जा सकता है ?

सिद्धान्ती—बतलाते हैं, यह नियम कर्माधिकारीके ही लिये है, जो कर्मके अधिकार और शास्त्राज्ञासे बाहर है उस ब्रह्मवेत्ताके लिये नहीं है । इसी प्रकार श्रुति भी ब्रह्मवेत्ताको कर्मके अधिकारसे बाहर दिखाती है—"यह ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंकी आज्ञाके अधीन नहीं है और न यह शास्त्रका अनुयायी होकर उसकी आज्ञासे रुक ही सकता है," "इसीलिये पूर्ववर्ती विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे," "इस आत्मतत्त्वको जान लेनेपर ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको छोड़कर भिक्षाचर्या-

हो, किन्तु शास्त्रभेदसे उनके फल या अनुष्ठानकी शैलीमें भेद दिखायी दे वहाँ अन्य शाखामें आये हुए अधिक अंशको सम्मिलित करके न्यूनताकी पूर्ति कर लेनी चाहिये । इसे शाखान्तरोपसंहारन्याय कहते हैं । इसका विशद वर्णन ब्रह्मसूत्रभाष्यके तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें देखना चाहिये ।

चरन्ति" (बृ० उ० ३ । ५ । १) "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवेति ।" यथाह भगवान्—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्या-
दात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्ट-
स्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥"
(गीता ३ । १७-१८)

तथा चाह भगवान्परमेश्वरो लैङ्गे कालकूटोपाख्याने—

"ज्ञानेनैतेन विप्रस्य
त्यक्तसङ्गस्य देहिनः ।
कर्तव्यं नास्ति विप्रेन्द्रा
अस्ति चेत्तत्त्वविन्न च ॥
इह लोके परे चैव
कर्तव्यं नास्ति तस्य वै ।
जीवन्मुक्तो यतस्तु स्या-
द्ब्रह्मवित्परमार्थतः ॥

श्वे० उ० ३—

करते थे," "ब्रह्मवेत्ता कावषेय ऋषियोंने भी यही कहा है—हम किस प्रयोजनके लिये अध्ययन करें और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यज्ञ करें ? वह किस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है, जिस प्रकार भी हो ऐसा (सर्वत्यागी) ही होगा ।" जैसा कि श्रीभगवान् भी कहते हैं—

"जो पुरुष आत्मामें ही प्रेम करनेवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है । उस पुरुषका इस लोकमें कर्म करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है और कर्म न करनेसे यहाँ उसे प्रत्यवाय आदि अनर्थकी भी प्राप्ति नहीं होती तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उसका कोई अर्थ-व्यपाश्रय (अर्थसिद्धिका सहारा) भी नहीं है ।"

लिङ्गपुराणमें कालकूटोपाख्यानमें ऐसा ही भगवान् महेश्वर भी कहते हैं—"हे द्विजेन्द्रगण ! इस ज्ञानके द्वारा निःसंग हुए जीवको कोई कर्त्तव्य नहीं रहता, यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है । उसे इस लोक और परलोकमें भी कोई कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि वास्तवमें ब्रह्मवेत्ता तो जीते हुए ही मुक्त हो जाता है ।

ज्ञानाभ्यासरतो नित्यं
विरक्तो ह्यर्थवित्स्वयम् ।
कर्तव्यभावमुत्सृज्य
ज्ञानमेवाधिगच्छति ॥
वर्णाश्रमाभिमानी य-
स्त्यक्त्वा ज्ञानं द्विजोत्तमाः ।
अन्यत्र रमते मूढः
सोऽज्ञानी नात्र संशयः ॥
क्रोधो भयं तथा लोभो
मोहो भेदो मदस्तमः ।
धर्माधर्मौ च तेषां हि
तद्वशाच्च तनुग्रहः ॥
शरीरे सति वै क्लेशः
सोऽविद्यां संत्यजेत्ततः ।
अविद्यां विद्यया हित्वा
स्थितस्यैवेह योगिनः ॥
क्रोधाद्या नाशमायान्ति
धर्माधर्मौ च नश्यतः ।
तत्क्षयाच्च शरीरेण
न पुनः संप्रयुज्यते ॥
स एव मुक्तः संसारा-
दुःखत्रयविवर्जितः ।"

परमार्थतत्त्वको जाननेवाला ज्ञानाभ्यासमें तत्पर विरक्त पुरुष कर्त्तव्यकी चिन्ता छोड़कर केवल ज्ञानहीको प्राप्त करता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! जो वर्णाश्रमाभिमानी पुरुष ज्ञानदृष्टिको त्यागकर मोहवश कहीं अन्यत्र सुख मानता है वह अज्ञानी है, इसमें सन्देह नहीं। क्रोध, भय, लोभ, मोह, भेददृष्टि, मद, अज्ञान और धर्माधर्म—ये सब ऐसे लोगोंको ही प्राप्त होते हैं और इनके अधीन होनेपर देह धारण करना पड़ता है। तथा शरीरके रहते हुए क्लेश अवश्यम्भावी है। अतः जीवको अविद्याका त्याग करना चाहिये। जो योगी विद्याद्वारा अविद्याका त्याग करके स्थित है उसके क्रोधादि दोष तथा धर्म और अधर्म इस लोकमें रहते हुए ही नष्ट हो जाते हैं। उनका क्षय होनेपर उसका फिर शरीरसे संयोग नहीं होता, तथा वही त्रिविध तापसे छूटकर संसारसे मुक्त हो जाता है।"

तथा शिवधर्मोत्तरे—
"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य
कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्य-
मस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।

तथा शिवधर्मोत्तरमें कहा है—"जो योगी ज्ञानामृतसे तृप्त होकर कृतकृत्य हो गया है उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं रहता, और यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।

लोकद्वयेऽपि कर्तव्यं
किञ्चिदस्य न विद्यते ।
इहैव स विमुक्तः स्या-
त्सम्पूर्णः समदर्शनः ॥"

तस्माद्विदुषः कर्तव्याभावाद-विद्यावद्विषय एवायं कुर्वन्नेवे-त्यादिकर्मनियमः । कुर्वन्नेवेति च नायं कर्मनियमः किन्तु विद्या-माहात्म्यं दर्शयितुं यथाकामं कर्मानुष्ठानमेव द्रष्टव्यम् । एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं यथाकामं पुण्यपापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्या-दिति । तथा हि—"ईशावास्य-मिदꣳ सर्वम्" (ईशा० उ० १) इत्यारभ्य "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (ईशा० उ० १) इति विदुषः सर्वकर्मत्यागेनात्मपालनमुक्त्वा-नियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्तव्य-

उसे दोनों लोकोंमें कोई कर्त्तव्य नहीं रहता । वह सर्वथा पूर्ण और समदर्शी होनेके कारण इस लोकमें ही मुक्त हो जाता है ।"

अतः विद्वान्‌के लिये कोई कर्त्तव्य न होनेके कारण 'कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे' इत्यादि रूपसे कर्म करनेका नियम केवल अज्ञानियोंके ही लिये है । अथवा यह समझना चाहिये कि 'कुर्वन्नेव' इत्यादि वाक्य कर्मका नियामक नहीं है, अपि तु ज्ञानकी महिमा दिखानेके उद्देश्यसे [ज्ञानीके लिये] स्वेच्छानुसार कर्मानुष्ठान प्रदर्शित करनेके लिये ही है । इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि विद्वान् स्वेच्छासे जीवन-पर्यन्त पुण्य-पापादिरूप कर्म करता भी रहे तो भी ज्ञानके सामर्थ्यसे उसे उन कर्मोंका लेप नहीं होगा । तात्पर्य यह है कि "ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्" यहाँसे लेकर "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इस प्रथम मन्त्रसे सर्वकर्म-परित्यागपूर्वक आत्मरक्षाका प्रतिपादन करनेपर वेद यह देखकर कि जिसके लिये कोई भी विधि नहीं की जा सकती उस ब्रह्मवेत्ताके लिये सर्वकर्मपरित्यागका विधान करना भी

तोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति मत्वा चकितः सन्वेदो विदुषस्त्याग-कर्तव्यतामपि नोक्तवान् । कुर्व-न्नेवेह लोके विद्यमानं पुण्य-पापादिकं कर्म यावज्जीवं जिजी-विषेत् । न पुण्यादिबन्धभयात्पु-ण्यादिकं त्यक्त्वा तूष्णीमवतिष्ठेत । एवं तावत्कर्माणि कुर्वत्यपि विदुषि त्वयीतो यावज्जीवानुष्ठाना-दन्यथाभावः स्वरूपात्प्रच्युतिः पुण्यादिनिमित्तसंसारान्वयो ना-स्ति । अथवेतः कर्मानुष्ठानोत्तर-कालभाव्यन्यथाभावःसंसारान्वयो नास्ति । यस्मात्त्वयि विन्यस्तं न कर्म लिप्यते । तथा च श्रुत्य-न्तरम्—"न लिप्यते कर्मणा पापकेन" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) ।

अनुचित ही है, चकित हुआ, अतः यह दिखानेके लिये कि मैंने विद्वान्‌के लिये कर्मत्यागकी भी विधि नहीं की है, यह कहा है कि ज्ञानी इस लोकमें आजीवन यथाप्राप्त पुण्य-पापादिरूप कर्म करता हुआ जीनेकी इच्छा करे; उसे पुण्यादि फलके बन्धनके भयसे पुण्यादिको त्यागकर चुपचाप बैठनेकी आवश्य-कता नहीं है ।* क्योंकि इस प्रकार यावज्जीवन कर्म करते रहनेपर भी तुझ ब्रह्मवेत्ताका अन्यथाभाव—स्वरूपच्युति अर्थात् पुण्यादिके कारण होनेवाला संसारका संसर्ग नहीं हो सकता । अथवा 'इतः' यानी कर्मानुष्ठानके पीछे होनेवाला अन्यथा-भाव—संसारका संसर्ग नहीं हो सकता । क्योंकि तुझ ब्रह्मवेत्तामें स्थापित कर्म लिप्त (संपृक्त) नहीं होता । ऐसी ही अन्य श्रुतियाँ भी हैं—"ज्ञानी पापकर्मोंसे लिप्त नहीं

* ज्ञानीमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता और न उसकी भोगदृष्टि ही होती है। इसलिये किसी भी प्रकारकी वासना न रहनेके कारण वह न तो पुण्यफलकी प्राप्तिके लिये पुण्यकर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है और न आसक्तिवश पापकर्म ही करता है। उसके प्रारब्धानुसार उससे जो कर्म होते हैं उनसे अन्य पुरुषोंका जो इष्ट या अनिष्ट होता है उसके कारण वे उनमें पुण्य या पापका आरोप कर लेते हैं। इसलिये उन्हींकी दृष्टिसे यहाँ ज्ञानीके कर्मोंको पुण्य-पाप विशेषणोंसे विशेषित किया है। यदि अपने द्वारा होते हुए कर्मोंमें ज्ञानीकी पुण्य-पापदृष्टि रहेगी तो यह असम्भव है कि उसे उनका फल न भोगना पड़े। पुण्य-पापदृष्टि तो जीवकी होती है और ज्ञानीमें जीवत्वका अत्यन्ताभाव होता है।

"एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा० उ० ४ । १४ । ३)। "नैनं कृताकृते तपतः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२)। "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५ । २४ । ३)।

लैङ्गे—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा ॥
ज्ञानिनः सर्वकर्माणि
जीर्यन्ते नात्र संशयः ।
क्रीडन्नपि न लिप्येत
पापैर्नानाविधैरपि ॥"

शिवधर्मोत्तरेऽपि—

"तस्माज्ज्ञानासिना तूर्ण-
मशेषं कर्मबन्धनम् ।
कामाकामकृतं छित्त्वा
शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति ॥
यथा वह्निर्महान्दीप्तः
शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।
तथा शुभाशुभं कर्म
ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात् ॥
पद्मपत्रं यथा तोयैः
स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
शब्दादिविषयाम्भोभि-

होता", "इस प्रकार जाननेवालेको पापकर्मका संसर्ग नहीं होता", "उसे पुण्य-पाप सन्ताप नहीं दे सकते", "इसी प्रकार इसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।"

लिङ्गपुराणमें कहा है—"इसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञानीके समस्त कर्म जीर्ण हो जाते हैं, वह नाना प्रकारके पाप-पुण्योंसे क्रीडा करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता।"

शिवधर्मोत्तरमें भी कहा है—"अतः वह तुरंत ही सकाम या निष्कामभावसे किये हुए सम्पूर्ण कर्मबन्धनको ज्ञानरूप खड्गसे काटकर शुद्ध हो अपने आत्मामें स्थित हो जाता है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रज्वलित हुआ अग्नि सूखे और गीले सब प्रकारके इन्धनको जला डालता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि एक क्षणमें ही समस्त शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर देता है। जिस प्रकार कमलका पत्ता अपने ऊपर पड़े हुए जलसे भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी प्रारब्धवश अपनेको प्राप्त हुए शब्दादि विषयरूप जलसे

स्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते ॥
यद्वन्मन्त्रबलोपेतः
क्रीडन्सर्पैर्न दश्यते ।
क्रीडन्नपि न लिप्येत
तद्वदिन्द्रियपन्नगैः ॥
मन्त्रौषधिबलैर्यद्व-
ज्जीर्यते भक्षितं विषम् ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि
जीर्यन्ते ज्ञानिनःक्षणात् ॥

स्वाभिमतसूत्रकृन्मतोपन्यासः

तथा च सूत्रकारः—"पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः" (ब्र० सू० ३ । ४ । १) इति ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थहेतुत्वमभिधाय "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो

लिप्त नहीं होता । जिस प्रकार मन्त्रबलसे सम्पन्न हुआ पुरुष सर्पोंके साथ खेलते रहनेपर भी उनके द्वारा नहीं डसा जाता उसी प्रकार ज्ञानी इन्द्रियरूप सर्पोंके साथ क्रीडा करते रहनेपर भी उनसे लिप्त नहीं होता । जिस प्रकार खाया हुआ विष भी मन्त्र और ओषधिके सामर्थ्यसे पच जाता है उसी प्रकार ज्ञानीके सारे पाप एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं ।"

तथा सूत्रकार भगवान् व्यासजीने भी "पुरुषार्थोऽतः[१] शब्दादिति बादरायणः" इस सूत्रसे ज्ञानको ही परमपुरुषार्थका हेतु बतलाकर फिर "शेषत्वात्[२]पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति

---

१. स्वतन्त्र साधनभूत इस (औपनिषद आत्मज्ञान) से मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें ['तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि] श्रुति प्रमाण है—ऐसा बादरायणाचार्यका मत है ।

२. इस सूत्रका विशद अर्थ इस प्रकार है—जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' इस व्रीहियागमें करणभूत व्रीहिके साथ ही उसका प्रोक्षण आदि भी यज्ञका अङ्ग माना जाता है उसी प्रकार आत्मा कर्तृरूपसे यज्ञ आदि कर्मका अङ्ग होनेके कारण उसका ज्ञान भी उस कर्मका अङ्ग ही है । अतः आत्मज्ञानके महान् फलको बतानेवाली 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति शेषत्वात्—यज्ञादि कर्मोंका अङ्ग होनेके कारण पुरुषार्थवाद है अर्थात् पुरुष [आत्मा] की प्रशंसाके लिये अर्थवादमात्र है; जिस प्रकार कि अन्यान्य द्रव्यसंस्कारसम्बन्धी कर्मोंमें फलश्रुति अर्थवाद मानी जाती है । उदाहरणके लिये निम्नाङ्कित श्रुति है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी पलाशकी 'जुहू' होती है वह कभी पापमय यशका श्रवण नहीं करता) यह फलश्रुति यज्ञसम्बन्धिनी जुहूसे सम्बन्ध रखनेवाले पलाशकी प्रशंसा करनेसे यज्ञकी ही अङ्गभूत है; अतः यज्ञशेष होनेसे अर्थवाद मानी

यथा…" (ब्र० सू० ३ । ४ । २) इत्यादिना कर्मापेक्षितकर्तृप्रतिपादकत्वेन विद्यायाः कर्मशेषत्वमाशङ्क्य "अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य…" (ब्र० सू० ३ । ४ । ८) इत्यादिना कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहितापहतपाप्मादिरूपब्रह्मोपदेशात्तद्विज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं त्वाशासानस्य कर्माधिकारहेतोःक्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्ददर्शनात्कर्माधिकारोच्छित्तिप्रसङ्गाद्भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्नकार्यत्वाच्च परस्परविकल्पः समु-

जैमिनिः" इस सूत्रसे जैमिनिके मतानुसार कर्ममें अपेक्षित कर्ताका प्रतिपादन करनेवाली होनेसे विद्याके कर्मशेषत्वकी आशङ्का कर "अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि विद्या कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मोंसे रहित निष्पापादिरूप ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, इसलिये जो पुरुष उसके ज्ञानपूर्वक कर्माधिकारकी सिद्धिकी आशा रखता है उसके कर्माधिकारके हेतुभूत अविद्याजनित क्रिया, कारक एवं फलरूप समस्त संसारके स्वरूपका विद्याके प्रभावसे विनाश देखा जानेके कारण कर्माधिकारके उच्छेदका प्रसंग उपस्थित होनेसे तथा कर्म और ज्ञानके भिन्न-भिन्न प्रकरण और भिन्न-भिन्न कार्य देखे जानेके कारण उनका आपसमें विकल्प,

गयी है। ऐसा जैमिनिका मत है। अभिप्राय यह कि यज्ञादिका कर्ता और भोक्ता संसारी जीव ही शरीर छूटनेपर आत्मा या परात्मा शब्दसे कहा गया है। जो संसारी जीव है उसीके ज्ञानका महत्त्व वेदान्तमें बताया गया है। इस मतमें ईश्वरका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है।

१. जैमिनिके पूर्वोक्त मतका खण्डन करते हुए कहते हैं—'अधिकोपदेशात्तु' इत्यादि। यदि कर्ता भोक्ता संसारी जीवका ही उपनिषद्की श्रुतियोंमें उपदेश किया गया होता तो उक्तरूपसे की हुई फलश्रुति अवश्य ही अर्थवाद हो सकती थी; किन्तु वहाँ तो संसारी जीवकी अपेक्षा बहुत ही उत्कृष्ट असंसारी परमेश्वरका वेद्यरूपसे उपदेश किया गया है, इसलिये मुझ बादरायणका [आत्मज्ञानसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इत्यादि] पूर्वोक्त मत ज्यों-का-त्यों ठीक ही है; क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियोंमें उस उत्कृष्ट परमात्माके स्वरूपका उपदेश देखा जाता है।

च्चयोऽङ्गाङ्गिभावो वा नास्तीति प्रतिपाद्य "अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" (ब्र० सू० ३ । ४ । २५) इति विद्याया एव परमपुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनाद्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीति पूर्वोक्तस्याधिकरणस्य फलमुपसंहृत्यात्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायां "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" (ब्र० सू० ३ । ४ । २६) इति नात्यन्तमनपेक्षा । उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते । उत्पत्तिं प्रत्यपेक्षत एव ।

समुच्चय अथवा अङ्गाङ्गिभाव कुछ भी नहीं हो सकता*—ऐसा प्रतिपादन करके "अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" इस सूत्रसे 'विद्या ही परमपुरुषार्थकी हेतु होनेके कारण वह अपने प्रयोजनकी पूर्तिमें अग्नि-इन्धनादिसे निष्पन्न होनेवाले आश्रम-कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखती' इस प्रकार पूर्वोक्त अधिकरणके फलका उपसंहार कर ज्ञानप्राप्तिमें कर्मकी अत्यन्त अनपेक्षा प्राप्त होनेपर "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि कर्मकी बिल्कुल ही अपेक्षा न हो—ऐसी बात नहीं है, अपि तु विद्या उत्पन्न हो जानेपर ही अपने फलकी सिद्धिमें किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखती, अपनी उत्पत्तिमें तो उसे कर्मकी अपेक्षा है ही, क्योंकि

* वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—ये दोनों अलग-अलग हैं तथा ज्ञानसे मोक्ष और कर्मोंसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है; इसलिये इनके फल भी अलग-अलग हैं । अतः इन दोनोंका परस्पर न तो विकल्प (एक ही प्रयोजनके लिये दोनोंमेंसे किसी एकका अनुष्ठान), न समुच्चय (दोनोंका एक साथ अनुष्ठान) और न अङ्गाङ्गिभाव (एकका दूसरेके अन्तर्गत होना) ही हो सकता है ।

१. [क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप है] इसीलिये उसमें अग्नि इन्धन आदि [आश्रमविहित कर्मों] की अपेक्षा नहीं है ।

२. विद्या अपनी उत्पत्तिमें योग्यतावश सभी आश्रम-कर्मोंकी अपेक्षा रखती है जैसे योग्यतानुसार अश्वका उपयोग होता है । इस विषयमें 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति प्रमाण है, [अर्थात् जैसे घोड़ा रथमें ही जोता जाता है हलमें नहीं उसी प्रकार] विद्या अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखती है

"विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुतेरिति विविदिषासाधनत्वेन कर्मणामुपयोगं दर्शितवान् । तथा च "नाविशेषात्" (ब्र० सू० ३ । ४ । १३) "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" (ब्र० सू० ३ । ४ । १४) इति-सूत्रद्वयेन कुर्वन्नेवेतिमन्त्रस्यावि-द्वद्विषयत्वेन विद्यास्तुतित्वेन चार्थद्वयं दर्शितवान् । अत उक्तेन प्रकारेण ज्ञानस्यैव मोक्षसाधन-त्वाद्युक्तः परोपनिषदारम्भः ।

"यज्ञके द्वारा आत्माको जानना चाहते हैं" इस श्रुतिसे वेदने जिज्ञासाके साधनरूपसे कर्मोंका उपयोग दिखलाया है । तथा इसके आगे "नाविशेषात्[1]" और "स्तुतयेऽनु-मतिर्वा[2]" इन दो सूत्रोंद्वारा "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इस श्रुतिके दो प्रकारसे अर्थ दिखलाये हैं—पहला यह कि 'यह 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि मन्त्र अज्ञानी-के लिये है ।' तथा दूसरा अर्थ यह है कि यह मन्त्र विद्या (ज्ञान) की स्तुतिके लिये है । इसलिये उक्त प्रकारसे ज्ञान ही मोक्षका साधन होनेके कारण आगेकी उपनिषद्को आरम्भ करना उचित ही है ।

ज्ञानादमृत-त्वेऽनुपपत्ति-दर्शनम्

ननु बन्धस्य मिथ्यात्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वेन ज्ञानादमृतत्वं स्यात् । न त्वेतदस्ति; प्रति-पन्नत्वाद्बाधाभावाद्युष्मदादिस्वरू-

पूर्व०—यदि जीवका बन्धन मिथ्या होता तो वह ज्ञानसे निवृत्त होनेयोग्य हो सकता था और ऐसी अवस्थामें ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती थी; किन्तु ऐसी बात है नहीं; क्योंकि बन्धन प्रत्यक्षसिद्ध है, इसका बाध नहीं होता और युष्मदस्मदादि (तू-मैं आदि) रूपसे प्रतीत

मोक्षरूप फलकी सिद्धिमें नहीं ।

१. ['विद्वान्' ऐसा] विशेषण न होनेके कारण 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि वाक्य तत्त्वज्ञविषयक नहीं है ।

२. अथवा तत्त्वज्ञके लिये जो कर्मानुज्ञा है वह ज्ञानकी स्तुतिके लिये है । अर्थात् तत्त्वज्ञ होनेपर जीवनपर्यन्त कर्म करनेपर भी कर्मका लेप नहीं होता—ऐसा कहकर तत्त्वज्ञानकी स्तुति की गयी है ।

पत्वेनात्मनो विलक्षणत्वे सादृश्याद्यभावादध्यासासम्भवाच्च ।

होनेके कारण आत्माका स्वरूप सबसे विलक्षण है, अतः उससे किसीका सादृश्य न होनेके कारण उसमें किसी अन्य वस्तुका अध्यास होना भी सम्भव नहीं है ।

उक्तानुपपत्तिपरिहारः उच्यते—न तावत्प्रतिपन्नत्वेन सत्यत्वं वक्तुं शक्यते, प्रतिपत्तेः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समानत्वात् । नापि बाधाभावात्सत्यत्वम्, विधिमुखेन कारणमुखेन च बाधसम्भवात् । तथाहि श्रुतिः—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं मायाकारणत्वं च दर्शयति "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) । "एकत्वम्" "नास्ति द्वैतम् ।" "कुतो विदिते वेद्यं नास्ति" । "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) । "एकमेव सत् ।" "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४ । ४ । १९) । "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) । "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० उ० ४ । १०) "मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता० उ० ४ । ९) । "इन्द्रो

सिद्धान्ती-अच्छा, बतलाते हैं [सुनो—] प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण ही बन्धनकी सत्यता नहीं बतलायी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्षता तो सत्य और असत्य दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंमें समानरूपसे देखी जाती है । बाध न होनेके कारण भी इसकी सत्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि शास्त्रविधि और कारणदृष्टिसे इसका बाध होना सम्भव है ही । जैसे कि "उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है," "एकत्व ही है," "द्वैत नहीं है," "क्योंकि ज्ञान हो जानेपर वेद्यका अभाव हो जाता है," "एक ही अद्वितीय है," "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है," "एक ही सद्वस्तु है," "यहाँ नाना कुछ भी नहीं है," "सबको एकरूप ही देखना चाहिये," "प्रकृतिको माया समझो," "मायावी परमात्मा इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको रचता है," "इन्द्र (परमात्मा) मायासे

मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्यादिभिर्वाक्यैः ।

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥"
(गीता ४ । ६)

"अविभक्तं च भूतेषु
विभक्तमिव च स्थितम् ।"
(गीता १३ । १६)

तथा च ब्राह्मे पुराणे--

"धर्माधर्मौ जन्ममृत्यू
सुखदुःखेषु कल्पना ।
वर्णाश्रमास्तथा वासः
स्वर्गो नरक एव च ॥
पुरुषस्य न सन्त्येते
परमार्थस्य कुत्रचित् ।
दृश्यते च जगद्रूप-
मसत्यं सत्यवन्मृषा ॥
तोयवन्मृगतृष्णा तु
यथा मरुमरीचिका ।
रौप्यवत्कीकसं भूतं
कीकसं शुक्तिरेव च ॥
सर्पवद्रज्जुखण्डश्च
निशायां वेश्ममध्यगः ।

अनेक रूप होकर चेष्टा करता है" इत्यादि वाक्योंद्वारा श्रुति प्रपञ्चका मिथ्यात्व और मायामूलकत्व प्रदर्शित करती है । [श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् भी कहते हैं—] "मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका प्रभु हूँ, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ", "वह ज्ञेय प्रत्येक शरीरमें आकाशके समान अविभक्त एवं एक है तो भी समस्त प्राणियोंमें विभक्त हुआ-सा स्थित है ।"

ब्रह्मपुराणमें भी कहा है—"धर्म-अधर्म, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखकी कल्पना, वर्णाश्रमविभाग तथा स्वर्ग या नरकमें रहना ये सब परमार्थ-स्वरूप पुरुषमें कहीं भी नहीं हैं । जिस प्रकार मरुमरीचिकारूप मृग-तृष्णा जलवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार इस जगत्का असत्य स्वरूप ही व्यर्थ सत्य-सा दृष्टिगोचर हो रहा है । वास्तविक शुक्ति शुक्तिरूप ही है, किन्तु जैसे वह चाँदीके समान भासने लगती है, घरमें पड़ा हुआ रस्सीका टुकड़ा जैसे रात्रिके समय सर्पवत् दिखायी देने लगता है,

एक एवेन्दुर्द्वौ व्योम्नि
तिमिराहतचक्षुषः ॥
आकाशस्य घनीभावो
नीलत्वं स्निग्धता तथा ।
एकश्च सूर्यो बहुधा
जलाधारेषु दृश्यते ॥
आभाति परमात्मापि
सर्वोपाधिषु संस्थितः ।
द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या
विकल्पो न च तत्तथा ॥
परत्र बन्धागारः स्या-
त्तेषामात्माभिमानिनाम् ।
आत्मभावनया भ्रान्त्या
देहं भावयतां सदा ॥
आप्रज्ञमादिमध्यान्तै-
र्भ्रमभूतैस्त्रिभिः सदा ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तैस्तु
च्छादितं विश्वतैजसम् ॥
स्वमायया स्वमात्मानं

जिसके नेत्र तिमिररोगसे पीडित हैं उस पुरुषको जैसे आकाशमें एक ही चन्द्रमा दो-सा दिखायी देने लगता है और जिस प्रकार [सर्वथा शून्यस्वरूप] आकाशमें घनीभाव नीलता और स्निग्धताकी प्रतीति होती है [उसी प्रकार जगत्का रूप मिथ्या होनेपर भी सत्य-सा जान पड़ता है]। जैसे एक ही सूर्य जलके अनेक आधारोंमें अनेक-सा दिखायी देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें स्थित परमात्मा ही [उन-उन रूपोंमें] भास रहा है । यह अविद्यासंज्ञक द्वैतभ्रान्ति विकल्प[१] ही है, यह यथार्थ नहीं है ।

"जो लोग भ्रान्तिवश सर्वदा देहको ही आत्मा समझते हैं उन देहाभिमानियोंका वह देह मरनेके पश्चात् परलोकमें बन्धनका स्थान होता है, [अर्थात् उन्हें पुनः देह धारण करना पड़ता है]। आदि, मध्य और अन्तमें जो सर्वदा भ्रमरूप ही हैं उन जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओंसे ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ भी आच्छादित हैं। यह जीव अपनी द्वैतरूप मायासे स्वयं ही

१. जिससे केवल शब्दका ही ज्ञान हो, किसी वस्तुका नहीं, उसे विकल्प कहते हैं; जैसे—आकाशकुसुम, शशशृङ्ग, बन्ध्यापुत्र आदि । इसी आशयका यह योगसूत्र है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (१ । ९) ।

मोहयेद्द्वैतरूपया ।
गुहागतं स्वमात्मानं
लभते च स्वयं हरिम् ॥
व्योम्नि वज्रानलज्वाला-
कलापो विविधाकृतिः ।
आभाति विष्णोः सृष्टिश्च
स्वभावो द्वैतविस्तरः ॥
शान्ते मनसि शान्तश्च
घोरे मूढे च तादृशः ।
ईश्वरो दृश्यते नित्यं
सर्वत्र न तु तत्त्वतः ॥
लोहमृत्पिण्डहेम्नां च
विकारो न च विद्यते ।
चराचराणां भूतानां
द्वैतता न च सत्यतः ॥
सर्वगे तु निराधारे
चैतन्यात्मनि संस्थिता ।
अविद्या द्विगुणां सृष्टिं
करोत्यात्मावलम्बनात् ॥
सर्पस्य रज्जुता नास्ति
नास्ति रज्जौ भुजङ्गता ।
उत्पत्तिनाशयोर्नास्ति
कारणं जगतोऽपि च ॥
लोकानां व्यवहारार्थ-
मविद्येयं विनिर्मिता ।

अपनेको मोहग्रस्त करता है और स्वयं ही अपने अन्तःकरणमें स्थित अपने आत्मभूत श्रीहरिको प्राप्त करता है । जिस प्रकार आकाशमें वज्राग्नि (बिजली) की अनेक प्रकारकी लपटें दिखायी देती हैं उसी प्रकार भगवान् विष्णुका स्वभाव ही द्वैतविस्ताररूप सृष्टि होकर भास रहा है । सर्वत्र सर्वदा एकमात्र भगवान् ही शान्त (सात्त्विक) चित्तमें शान्तरूपसे और घोर (राजस) तथा मूढ (तामस) चित्तमें घोर और मूढरूपसे दिखायी दे रहे हैं । किन्तु तत्त्वतः वे वैसे नहीं हैं ।

'लोहा, मृत्पिण्ड और सुवर्ण इनका भी विकार नहीं होता । जितने चराचर भूत हैं उनका भेद वस्तुतः नहीं है । सर्वगत निराधार चैतन्यात्मामें स्थित अविद्या ही आत्माके आश्रयसे स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारकी सृष्टि रचती है । जिस प्रकार सर्पमें रज्जुत्व और रज्जुमें सर्पत्व नहीं है उसी प्रकार जगत्के उत्पत्ति और नाशका भी कोई कारण नहीं है । इस अविद्याकी रचना (कल्पना) लोकव्यवहारके लिये ही हुई है ।

एषा विमोहिनीत्युक्ता
द्वैताद्वैतस्वरूपिणी ॥
अद्वैतं भावयेद्ब्रह्म
सकलं निष्कलं सदा ।
आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो
न बिभेति कुतश्चन ॥
मृत्योः सकाशान्मरणा-
दथवान्यकृताद्भयात् ।
न जायते न म्रियते
न वध्यो न च घातकः ॥
न बद्धो बन्धकारी वा
न मुक्तो न च मोक्षदः ।
पुरुषः परमात्मा तु
यदतोऽन्यदसच्च तत् ॥
एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं
विष्णोर्मायामयं मृषा ।
भोगासङ्गाद्भवेन्मुक्त-
स्त्यक्त्वा सर्वविकल्पनाम् ॥
त्यक्तसर्वविकल्पश्च
स्वात्मस्थं निश्चलं मनः ।
कृत्वा शान्तो भवेद्योगी
दग्धेन्धन इवानलः ॥
एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना

यह द्वैताद्वैतस्वरूपिणी है और [संसारको मोहित करनेवाली होनेसे] 'विमोहिनी' कही गयी है। आत्मज्ञानीको चाहिये कि वह सर्वदा पूर्ण परब्रह्मका निष्कल और अद्वैतरूपसे चिन्तन करे। इससे वह शोकसे पार होकर किसीसे भय नहीं करता। उसे मृत्युकी सन्निधिसे, मरनेसे अथवा किसी अन्य कारणसे होनेवाले भयसे भी डर नहीं लगता।'

"परमपुरुष परमात्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न मारा जा सकता है, न मारनेवाला है, न बद्ध है, न बन्धनमें डालनेवाला है, न मुक्त है और न मुक्ति देनेवाला है। उससे भिन्न जो कुछ है वह असत् है। इस प्रकार भगवान् विष्णुके विश्वरूपको मायामय और मिथ्या समझकर सब प्रकारकी कल्पनाको त्यागकर भोगोंकी आसक्तिसे मुक्त हो जाय। इस प्रकार समस्त विकल्पोंसे छूटकर मनको आत्मस्थ, निश्चल और शान्त करके योगी जिसका ईंधन जल चुका है ऐसे [धूमरहित] अग्निके समान हो जाता है।"

"यह चौबीस भेदोंवाली माया

१. मायाके चौबीस भेद इस प्रकार हैं—एक प्रकृति (त्रिगुणात्मिका मूला प्रकृति), सात प्रकृति-विकृति (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) और सोलह विकृति (दश इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत)।

माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च
विषादशोकौ च विकल्पजालम्॥
धर्माधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टि-
विनाशपाकौ नरके गतिश्च ।
वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च
रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च ॥
कौमारतारुण्यजरावियोग-
संयोगभोगानशनव्रतानि ।
इतीदमीदृग्विदयं निधाय
तूष्णीमासीनः सुमतिं विविद्धि॥"

जगत्की मूल कारण है । उसीसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, शोक तथा अन्य विकल्पजाल उत्पन्न हुए हैं। और उसीसे धर्म-अधर्म, सुख-दुःख और सृष्टि-विनाशरूप परिणाम, नरकमें जाना, स्वर्गमें रहना, जाति, आश्रम, राग, द्वेष, तरह-तरहकी व्याधियाँ, कुमारावस्था, तरुणता, वृद्धावस्था, वियोग, संयोग, भोग, उपवास और व्रत प्रकट हुए हैं । इन सबको इस प्रकार [प्रकृतिका ही विकार] जाननेवाला पुरुष इन्हें प्रकृतिमें स्थापित कर मौनभावसे स्थित रहता है । उसे ही तुम शुभ मतिवाला जानो ।"

तथा च श्रीविष्णुधर्मे षडध्याय्याम्—

"अनादिसम्बन्धवत्या
क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।
युक्तः पश्यति भेदेन
ब्रह्म तत्त्वात्मनि स्थितम् ॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च
यावद्वै परमात्मनः ।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु-
र्मोहितो निजकर्मणा ॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु
परं ब्रह्म प्रपश्यति ।

तथा श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके अन्तर्गत षडध्यायीमें भी कहा है—"यह क्षेत्रज्ञ अपनेमें अनादिकालसे सम्बद्ध हुई अविद्यासे युक्त होकर अपने अन्तःकरणमें स्थित ब्रह्मको भेदरूपसे देखता है । जबतक जीव परमात्मासे भिन्न अपनेको तथा अन्य जीवोंको देखता है तबतक वह अपने कर्मोंद्वारा मोहित होकर संसारमें भटकाया जाता है । जब इसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं तो यह शुद्ध परब्रह्मको अपनेसे अभिन्नरूपसे

अभेदेनात्मनः शुद्धं
शुद्धत्वादक्षयो भवेत् ॥
अविद्या च क्रियाः सर्वा
विद्या ज्ञानं प्रचक्षते ।
कर्मणा जायते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते ॥
अद्वैतं परमार्थो हि
द्वैतं तद्भिन्न उच्यते ।
पशुतिर्यङ्मनुष्याख्यं
तथैव नृप नारकम् ॥
चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं
मिथ्याज्ञाननिबन्धनः ।
अहमन्योऽपरश्चाय-
ममी चात्र तथापरे ॥
अज्ञानमेतद्द्वैताख्य-
मद्वैतं श्रूयतां परम् ।
मम त्वहमिति प्रज्ञा-
वियुक्तमविकल्पवत् ॥
अविकार्यमनाख्येय-
मद्वैतमनुभूयते ।
मनोवृत्तिमयं द्वैत-
मद्वैतं परमार्थतः ॥
मनसो वृत्तयस्तस्मा-
द्धर्माधर्मनिमित्तजाः ।
निरोद्धव्यास्तन्निरोधे
द्वैतं नैवोपपद्यते ॥
मनोदृष्टमिदं सर्वं
यत्किञ्चित्सचराचरम् ।

देखता है, और शुद्ध हो जानेके कारण यह अक्षय हो जाता है। समस्त कर्म अविद्यारूप हैं और ज्ञान विद्या कहलाता है। कर्मसे जीवको जन्म लेना पड़ता है और ज्ञानसे वह मुक्त हो जाता है। अद्वैत ही परमार्थ है और द्वैत उससे भिन्न (अपरमार्थ) कहा जाता है। हे राजन् ! पशु, तिर्यक्, मनुष्य और नारकी जीव—यह चार प्रकारका भेद मिथ्या ज्ञानके ही कारण है। मैं अन्य हूँ, यह अन्य है और ये सब अन्य हैं—यही द्वैत कहलानेवाला अज्ञान है। अब अद्वैतके विषयमें श्रवण करो।

"अद्वैततत्त्व मैं-मेरा, तू-तेरा आदि बुद्धिसे रहित, निर्विकल्प, निर्विकार और अनिर्वचनीयरूपसे अनुभूत होता है। द्वैत मनोवृत्तिरूप है, परमार्थतः अद्वैत ही तो है; अतः धर्माधर्मरूप निमित्तके कारण उत्पन्न हुई मनकी वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। उनका निरोध हो जानेपर द्वैतकी सिद्धि नहीं होती। यह जो कुछ चराचर जगत है सब मनका दृश्यमात्र है।

मनसो ह्यमनीभावे-
ऽद्वैतभावं तदाऽऽप्नुयात् ॥
कर्मणां भावना येयं
सा ब्रह्मपरिपन्थिनी ।
कर्मभावनया तुल्यं
विज्ञानमुपजायते ॥
तादृग्भवति विज्ञप्ति-
र्यादृशी खलु भावना ।
क्षये तस्याः परं ब्रह्म
स्वयमेव प्रकाशते ॥
परात्मनोर्मनुष्येन्द्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः ।
क्षये तस्यात्मपरयो-
रविभागोऽत एव हि ॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो हि
संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव विगतः शुद्धः
परमात्मा निगद्यते ॥"

मनका अमनीभाव (नाश) हो जानेपर यह अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है। यह जो कर्मोंकी भावना है वह ब्रह्मानुभवमें विघ्नरूप है, क्योंकि कर्मोंकी भावनाके अनुकूल ही विज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान तो वैसा ही होता है जैसी कि भावना होती है। अतः भावनाका नाश हो जानेपर परब्रह्मका स्वयं ही अनुभव होने लगता है। हे राजन्! आत्मा और परब्रह्मका जो विभाग है वह अज्ञानकल्पित ही है। इसीसे उसका क्षय हो जानेपर फिर आत्मा और परब्रह्मका अभेद ही निश्चित होता है। क्षेत्रज्ञसंज्ञक आत्मा प्रकृतिके गुणोंसे युक्त है, वही उनसे रहित होकर शुद्ध होनेपर परमात्मा कहलाता है।"

तथा च श्रीविष्णुपुराणे—
"परमात्मा त्वमेवैको
नान्योऽस्ति जगतः पते।
तवैष महिमा येन
व्याप्तमेतच्चराचरम् ॥
यदेतद्दृश्यते मूर्त-
मेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति
जगद्रूपमयोगिनः ॥

ऐसा ही श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा है—"हे जगत्पते! तुम्हीं एकमात्र परमात्मा हो; तुमसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिससे यह चराचर जगत् व्याप्त है वह यह तुम्हारी ही महिमा है। यह जो कुछ मूर्त्त जगत् दिखायी देता है ज्ञानस्वरूप आपका ही रूप है। असंयमी लोग अपने भ्रमपूर्ण ज्ञानके अनुसार इसे जगद्रूप देखते हैं।

ज्ञानस्वरूपमखिलं
जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो
भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्ध-
चेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति
त्वद्रूपं पारमेश्वरम् ॥"
(१ । ४ । ३८-४१)

"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥"
(१ । २२ । ८७)

"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं
निर्मलं परमार्थतः ।
तदेवार्थस्वरूपेण
भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥"
(१ । २ । ६)

"ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा-
वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥"
(२ । १२ । ३९)

"वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्य-
पर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूमौ

इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत्को अर्थस्वरूप देखनेवाले बुद्धिहीन पुरुषोंको मोहरूप महासागरमें भटकना पड़ता है। किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानीलोग हैं वे इस सम्पूर्ण जगत्को आप परमात्माका ज्ञानमय स्वरूप ही देखते हैं।"

"जिसका ऐसा निश्चय है कि मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् जनार्दन श्रीहरि ही हैं उनसे भिन्न कोई भी कार्य-कारणवर्ग नहीं है, उस पुरुषको फिर सांसारिक राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप रोग नहीं होते।"

"जो परमार्थतः (वास्तवमें) अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप परमात्मा है वही अज्ञान-दृष्टिसे विभिन्न पदार्थोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है।" "वे विश्व-मूर्ति भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, पदार्थाकार नहीं हैं, इसलिये इन पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थोंको तुम विज्ञानका ही विलास जानो।" "हे द्विज ! क्या घट-पटादि कोई भी ऐसी वस्तु है जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं सर्वदा एक रूपमें ही रहनेवाली हो। पृथिवीपर जो वस्तु बदलती रहती है, पूर्ववत् नहीं

न तत्तथा तत्र कुतो हि तत्त्वम् ॥
महीं घटत्वं घटतः कपालिका
कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयै-
रालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम् ।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो
ज्ञानं तथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूतं
तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते ॥"
(२ । १२ । ४१–४५)

रहती, उसमें वास्तविकता कैसे हो सकती है ? देखो, मृत्तिका ही घटरूप हो जाती है, फिर वही घटसे कपाल, कपालसे चूर्ण रज और रजसे अणु-रूप हो जाती है । फिर बताओ तो सही, अपने कर्मोंके वशीभूत हो आत्मनिश्चयको भूले हुए मनुष्य इसमें कौन-सी सत्य वस्तु देखते हैं ? अतः हे द्विज ! विज्ञानके सिवा कभी कहीं कोई भी पदार्थसमूह नहीं है । अपने-अपने कर्मोंके कारण विभिन्न चित्तवृत्तियोंसे युक्त पुरुषोंको एक विज्ञान ही विभिन्नरूपसे प्रतीत हो रहा है । राग-द्वेषादि मलसे रहित शोकशून्य, लोभादि सम्पूर्ण दोषोंसे वर्जित,सदा एकरस एवं असंग एकमात्र विशुद्ध विज्ञान ही वह सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर वासुदेव है; उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है । इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति परमार्थका निरूपण किया । बस, एक ज्ञान ही सत्य है, और सब मिथ्या है । उसके सिवा यह जो व्यावहारिक सत्य है उस त्रिभुवनके विषयमें भी वर्णन कर दिया ।"

"अविद्यासंचितं कर्म
तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो
निर्गुणः प्रकृतेः परः ।

" कर्म अविद्याजनित है और वह सभी जीवोंमें विद्यमान है; किन्तु आत्मा शुद्ध, निर्विकार, शान्त, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत है ।

प्रवृद्धयपचयौ न स्त
एकस्याखिलजन्तुषु ॥''
(२ । १३ । ७०-७१)

''यत्तु कालान्तरेणापि
नान्यसंज्ञामुपैति वै ।
परिणामादिसंभूतां
तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥''
(२ । १३ । १००)

''यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि
मत्तः पार्थिवसत्तम ।
तदैषोऽहमयं चान्यो
वक्तुमेवमपीष्यते ॥
यदा समस्तदेहेषु
पुमानेको व्यवस्थितः ।
तदा हि को भवान्सोऽह-
मित्येतद्विप्रलम्भनम् ॥
त्वं राजा शिबिका चेयं
वयं वाहा पुरःसराः ।
अयं च भवतो लोको
न सदेतत्त्वयोच्यते ॥''
(२ । १३ । ९०-९२)

''वस्तु राजेति यल्लोके
यच्च राजभटात्मकम् ।
तथान्ये च नृपत्वं च
तत्तत्सङ्कल्पनामयम् ॥''
(२ । १३ । ९९)

''अनाशी परमार्थश्च
प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।''
(२ । १४ । २४)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें विद्यमान उस एक आत्माके वृद्धि और क्षय नहीं होते ।'' ''हे राजन् ! जो कालान्तरमें भी परिणामादिके कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञाको प्राप्त नहीं होती वही परमार्थ वस्तु है । ऐसी वस्तु [आत्माके सिवा] और क्या है ?'' ''हे नृपश्रेष्ठ ! यदि मुझसे भिन्न कोई और पदार्थ होता तो यह, मैं, अमुक, अन्य आदि भी कहना ठीक हो सकता था । जब कि सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही पुरुष स्थित है तो 'आप कौन हैं ?' 'मैं वह हूँ' इत्यादि वाक्य वञ्चनामात्र हैं ! तुम राजा हो, यह पालकी है, हम तुम्हारे सामने चलनेवाले वाहक हैं और ये तुम्हारे परिजन हैं—यह तुम ठीक नहीं कहते ।'' ''व्यवहारमें जो वस्तु राजा है, जो राजसेवकादि हैं और जिसे राजत्व कहते हैं तथा इनके सिवा जो अन्य पदार्थ हैं वे सब सङ्कल्पमय ही हैं ।'' ''अविनाशी परमार्थतत्त्वकी उपलब्धि तो ज्ञानियोंको ही होती है ।''

"परमार्थस्तु भूपाल
संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ॥
एको व्यापी समः शुद्धो
निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
जन्मवृद्ध्यादिरहित
आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥
परज्ञानमयः सद्भि-
र्नामजात्यादिभिः प्रभुः ।
न योगवान्न युक्तोऽभू-
न्नैव पार्थिव योक्ष्यते ॥
तस्यात्मपरदेहेषु
संयोगो ह्येक एव यत् ।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ
द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥"
(२ । १४ । २८—३१)

'राजन्! तुम मुझसे संक्षेपमें परमार्थतत्त्व श्रवण करो। सर्वव्यापी, सर्वत्र समभावसे स्थित, शुद्ध, निर्गुण प्रकृतिसे अतीत, जन्म और वृद्धि आदिसे रहित, सर्वगत एवं अविनाशी आत्मा एक है। वह परम ज्ञानमय है। हे राजन्! उस प्रभुका वास्तविक नाम एवं जाति आदि-से संयोग न तो है, न हुआ है और न कभी होगा ही। उसका अपने और दूसरोंके देहों-के साथ एक ही संयोग है। इस प्रकारका जो विशेष ज्ञान है वही परमार्थ है। द्वैतवादी तो अपरमार्थदर्शी हैं। हे विद्वन्! इस प्रकार यह सारा जगत् वासुदेवसंज्ञक परमात्माका एक अभिन्न स्वरूप ही है।"

"एवमेकमिदं विद्धि-
न्नभेदि सकलं जगत् ।
वासुदेवाभिधेयस्य
स्वरूपं परमात्मनः ॥"
(२ । १५ । ३५)

"निदाघोऽप्युपदेशेन
तेनाद्वैतपरोऽभवत् ॥
सर्वभूतान्यभेदेन
स ददर्श तदात्मनः ।
तथा ब्रह्म ततो मुक्ति-
मवाप परमां द्विजः ॥
सितनीलादिभेदेन
यथैकं दृश्यते नभः ।

"[गुरुवर ऋभुके] इस उपदेशसे निदाघ भी अद्वैतपरायण हो गया; और तब वह समस्त प्राणियोंको आत्माके साथ अभेदरूपसे देखने लगा तथा उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया। हे द्विज! इससे उसने उत्कृष्ट मोक्षपद प्राप्त कर लिया। जिस प्रकार एक ही आकाश सफेद और नीले आदि भेदसे विभिन्न प्रकारका दिखायी

भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि
तथैकः सन्पृथक्पृथक् ॥"
(२ । १६ । १९-२०)
"एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चि-
त्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥
इतीरितस्तेन स राजवर्य-
स्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ।
स चापि जातिस्मरणाप्तबोध-
स्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप ॥"
(२ । १६ । २२—२४)

देता है उसी प्रकार जिनकी दृष्टि भ्रमग्रस्त है उन लोगोंको आत्मा एक होनेपर भी पृथक्-पृथक् दिखायी देता है ।" "इस जगत्‌में जो कुछ है वह सब एकमात्र श्रीहरि ही है; उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है । वही मैं हूँ, वही तुम हो और यह सारा जगत् भी आत्मस्वरूप श्रीहरि ही है । तुम भेदभ्रमको छोड़ दो । उस (अवधूत) के ऐसा कहनेपर उस सौवीरनरेशने परमार्थदृष्टिसे सम्पन्न हो भेदबुद्धि छोड़ दी, और उस ब्राह्मणने भी पूर्वजन्मका स्मरण रहनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर उसी जन्ममें मोक्षपद प्राप्त कर लिया ।"

तथा लैङ्गे—
"तस्मादज्ञानमूलो हि
संसारः सर्वदेहिनाम् ।
परतन्त्रे स्वतन्त्रे च
भिदाभावाद्विचारतः ॥
एकत्वमपि नास्त्येव
द्वैतं तत्र कुतोऽस्त्यहो ।
एकं नास्त्यथ मर्त्यं च
कुतो मृतसमुद्भवः ॥
नान्तःप्रज्ञो बहिष्प्रज्ञो
न चोभयत एव च ।

तथा लिङ्गपुराणमें कहा है—
"अतः समस्त प्राणियोंको यह संसार अज्ञानके ही कारण प्राप्त हुआ है; क्योंकि विचार करनेपर स्वतन्त्र परमात्मा और परतन्त्र जीवमें कोई भेद नहीं है । अहो ! जब उसमें एकत्व भी नहीं है तो द्वैत कहाँसे हो सकता है ? जब एक नहीं और कोई मर्त्य (मरणधर्मा) भी नहीं तो मृत्यु कहाँसे हो सकती है ? वह न अन्त:प्रज्ञ (भीतरकी जाननेवाला) है, न बहिष्प्रज्ञ (बाहरकी जाननेवाला) है, न दोनों ओरकी जानने-

न प्रज्ञानघनस्त्वेवं
न प्रज्ञोऽप्रज्ञ एव सः ॥
विदिते नास्ति वेद्यं च
निर्वाणं परमार्थतः ।
अज्ञानतिमिरात्सर्वं
नात्र कार्या विचारणा ॥
ज्ञानं च बन्धनं चैव
मोक्षो नाप्यात्मनो द्विजाः ।
न ह्येषा प्रकृतिर्जीवो
विकृतिश्च विकारतः ।
विकारो नैव मायैषा
सदसद्व्यक्तिवर्जिता ॥"

वाला है और न प्रज्ञानघन है। इसीलिये वह न प्रज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञानवान्) है और न अप्रज्ञ (ज्ञानहीन) ही है। ज्ञान हो जानेपर तो कोई ज्ञेय ही नहीं रहता; अतः परमार्थतः निर्वाणस्वरूप ही है। सब कुछ अज्ञानान्धकारके ही कारण है। इसमें किसी प्रकारका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। हे द्विजगण! आत्माका न ज्ञान होता है, न बन्धन होता है और न मोक्ष ही होता है। जीव न तो यह प्रकृति है, न विकृति है और न इनका विकार ही है, क्योंकि ये सब विकारी हैं। यह सब तो सत्-असत्से विलक्षण माया ही है।"

तथाह भगवान्पराशरः—
"अस्माद्धि जायते विश्व-
मत्रैव प्रविलीयते ।
स मायी मायया बद्धः
करोति विविधास्तनूः ॥
न चात्रैवं संसरति
न च संसारयेत्परम् ।
न कर्ता नैव भोक्ता च
न च प्रकृतिपूरुषौ ॥
न माया नैव च प्राण-
श्चैतन्यं परमार्थतः ।

तथा भगवान् पराशर कहते हैं—"इसीसे विश्व उत्पन्न होता है और इसीमें लीन हो जाता है। वह मायामय मायासे बँधकर स्वयं ही अनेक प्रकारके शरीर धारण कर लेता है। किन्तु इस प्रकार न तो वह स्वयं संसारको प्राप्त होता है और न किसी अन्यको ही संसारमें प्रवृत्त करता है क्योंकि वह न कर्ता है, न भोक्ता है, न प्रकृति या पुरुष है, न माया है और न प्राण है; वस्तुतः वह तो चैतन्य है। अतः

तस्मादज्ञानमूलो हि
संसारः सर्वदेहिनाम् ॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा
कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स भिद्यते शक्त्या
मायया न स्वभावतः ॥
तस्मादद्वैतमेवाहु-
र्मुनयः परमार्थतः ।
ज्ञानस्वरूपमेवाहु-
र्जगदेतद्विचक्षणाः ॥
अर्थस्वरूपमज्ञाना-
त्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ।
कूटस्थो निर्गुणो व्यापी
चैतन्यात्मा स्वभावतः ॥
दृश्यते ह्यर्थरूपेण
पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः ।
यदा पश्यति चात्मानं
केवलं परमार्थतः ॥
मायामात्रमिदं द्वैतं
तदा भवति निर्वृतः ।
तस्माद्विज्ञानमेवास्ति
न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥"

समस्त प्राणियोंको अज्ञानके कारण ही संसारकी प्राप्ति हुई है। आत्मा तो नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और निर्दोष है। वह एक अपनी मायाशक्तिके द्वारा ही भेदको प्राप्त होता है, स्वरूपतः नहीं। अतः मुनियोंने परमार्थतः अद्वैत ही बतलाया है; विद्वानोंने इस जगत्को ज्ञानस्वरूप ही कहा है। जिनकी दृष्टि दूषित है वे अन्य लोग ही अज्ञानवश इसे परमार्थस्वरूप समझते हैं। चैतन्य आत्मा तो स्वभावतः कूटस्थ, निर्गुण और सर्वव्यापक है। भ्रान्तिदर्शी लोगोंको ही वह पदार्थाकार प्रतीत होता है। जिस समय पुरुष आत्माका परमार्थरूपसे साक्षात्कार करता है और इस द्वैतप्रपञ्चको मायामात्र समझता है उसी समय उसे शान्ति प्राप्त होती है। अतः केवल विज्ञान ही है, प्रपञ्च या संसार नहीं है।"

एवं श्रुत्यादिना नामादिकारणोपन्यासमुखेन (प्रपञ्चस्य) स्वरूपेण च बाधितत्वात्प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमवगम्यते (मिथ्यात्वम्)। अस्थूलादिलक्षणस्य ब्रह्मणस्तद्विपरीतस्थूलाकारो मिथ्या

इस प्रकार श्रुति आदिके द्वारा नामादिके कारणोंका दिग्दर्शन करानेसे तथा स्वरूपतः बाधित होनेके कारण प्रपञ्चका मिथ्यात्व जाना जाता है। ब्रह्म अस्थूलादि लक्षणोंवाला है, अतः उससे विपरीत स्थूलाकार

भवितुमर्हति । यथैकस्य चन्द्रमसस्तद्विपरीतद्वितीयाकारस्तद्वत् ।

सूत्रकृन्मतोपन्यासपूर्वकं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वसमर्थनम्

तथा च सूत्रकारो "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" (ब्र० सू० ३ । २ । ११) इति स्वरूपत उपाधितश्च विरुद्धरूपद्वयासंभवान्निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "न भेदात्"··· (ब्र० सू० ३ । २ । १२) इति भेदश्रुतिबलात्किमिति सविशेषमपि ब्रह्म नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य "न प्रत्येकमतद्वचनात्" इत्युपाधिभेदस्य श्रुत्यैव बाधितत्वादभेदश्रुतिबलात्सविशेषस्य ग्रहणायोगान्निर्विशेषमेवेत्युपपाद्य "अपि

प्रपञ्च मिथ्या होना ही चाहिये । जिस प्रकार एक चन्द्रमाका दूसरा आकार मिथ्या होता है उसी प्रकार इसे समझना चाहिये ।

इसी प्रकार सूत्रकार भगवान् व्यासने भी "न[1] स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इस सूत्रद्वारा स्वरूपसे और उपाधिसे भी ब्रह्मके [सविशेष और निर्विशेष] दो परस्पर-विरुद्ध रूप सम्भव न होनेके कारण ब्रह्म निर्विशेष ही है ऐसा उपपादन कर [फिर "न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" इस सूत्रके] "न[2] भेदात्" इस अंशद्वारा ऐसी आशङ्का कर कि 'क्या भेदश्रुतिके सामर्थ्यसे ब्रह्मको सविशेष भी नहीं माना जा सकता' "न[3] प्रत्येकमतद्वचनात्" इस अंशसे यह निश्चय किया है कि उपाधिजनित भेद श्रुतिसे ही बाधित होनेके कारण अभेदश्रुतिके सामर्थ्यसे सविशेष ब्रह्मका ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये वह निर्विशेष ही है । इसके

१. परब्रह्म उपाधिसे भी [सविशेष-निर्विशेष] उभयरूप नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वत्र उसका निर्विशेषरूपसे ही वर्णन किया गया है ।

२. [यदि कहो] ऐसा नहीं है, क्योंकि ['चतुष्पाद् ब्रह्म' 'षोडशकलं ब्रह्म' इत्यादि रूपसे] प्रत्येक विद्यामें उसका भेदरूपसे वर्णन किया है ।

३. तो ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक औपाधिक भेदमें ['अयमेव स योऽयमात्मा' इत्यादि श्रुतिके द्वारा] उसका अभेद ही बतलाया गया है ।

चैवमेके" (ब्र० सू० ३ । २ । १३) इति भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेवैके शाखिनः समामनन्ति—"मनसैवेदमाप्तव्यम्" (क० उ० ४ । ११) । "नेह नानास्ति किञ्चन ।" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० उ० ४ । ४ । १९) । "एकधैवानुद्रष्टव्यमिति" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १ । १२) इति सर्वभोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावताभिधीयत इति ।

सविशेषत्वमाशङ्क्य तन्निरसनं श्रुतिविरोधपरिहारश्च

पुनरपि निर्विशेषपक्षे दृढीकृते किमित्येकस्वरूपस्य उभयस्वरूपासंभवेऽनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमित्याशङ्क्य "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" (ब्र०सू०३ । २ । १४) इति रूपाद्या-

पश्चात् "अपि चैवमेके" इस सूत्रसे यह निश्चय किया है कि कोई-कोई शाखावाले भेददृष्टिकी निन्दा करते हुए अभेदका ही प्रतिपादन करते हैं । [उनका कथन है कि] "यह मनसे ही प्राप्त किया जा सकता है", "यहाँ नाना कुछ नहीं है", "यहाँ जो अनेकवत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", "उसे एकरूप ही देखना चाहिये" तथा "भोक्ता, भोग्य और प्रेरक मानकर जिसे तीन प्रकारका कहा गया है वह सब ब्रह्म ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे भोक्ता, भोग्य और प्रेरकरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही कहा गया है ।

इस प्रकार फिर भी निर्विशेष पक्षकी ही पुष्टि होनेपर 'एकस्वरूप ब्रह्मका उभयरूप होना असम्भव है, इसलिये ब्रह्मको निराकार ही क्यों निश्चय किया जाता है उसके विपरीत साकार क्यों नहीं माना जाता' ऐसी आशङ्का कर "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" इस सूत्रसे यह व

१. अपि तु किसी-किसी शाखावाले इस प्रकार ही [अर्थात् भेदकी निन्दापूर्वक अभेदका ही] प्रतिपादन करते हैं ।

२. ब्रह्म रूपरहित ही है, क्योंकि प्रधानतया ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली 'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुति निर्गुणप्रधान ही है ।

काररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात्। "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृ० उ० ३।८।८) "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (क० उ० १।३।१५)। "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" (छा० उ० ४।१४।७) "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्येतदनुशासनम्" (बृ० उ० २।५।१९) इत्येवमादीनि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि। इतराणि कारणब्रह्मविषयाणि न तत्प्रधानानि। तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति। अतस्तत्पर-

है कि ब्रह्मको रूपादि आकारोंसे रहित ही निश्चय करना चाहिये। क्यों?—इसलिये कि निर्विशेष वाक्य ही ब्रह्मका प्रधानतया प्रतिपादन करते हैं। यथा—"ब्रह्म न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है," "ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपहीन तथा अविनाशी है", "आकाश (आकाशसंज्ञक ब्रह्म) ही नामरूपका निर्वाहक है, वे जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है", "वह ब्रह्म कारण-कार्यसे रहित तथा अन्तर्बाह्यशून्य है यह आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है—यही वेदकी आज्ञा है" इत्यादि वाक्य प्रधानतया निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं।* अन्य जो कारणब्रह्मविषयक वाक्य हैं उनका मुख्य तात्पर्य ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादनमें नहीं है। किसी भी ज्ञातव्य वस्तुके सम्बन्धमें [1]अतत्प्रधान वाक्योंकी अपेक्षा [2]तत्प्रधान वाक्य ही बलवान् होते हैं। अतः प्रधानतया ब्रह्म-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली

* उनका मुख्य तात्पर्य प्रपञ्चको चेतनसे अभिन्न सिद्ध करनेमें ही है।

१. जिन वाक्योंमें ज्ञातव्य वस्तुकी चर्चा तो रहती है, पर उनका मुख्य तात्पर्य उस वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें नहीं होता, वे 'अतत्प्रधान' कहलाते हैं।

२. जो वाक्य मुख्यतया ज्ञातव्य 'वस्तु' के तत्त्वका ही प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य रखते हैं, वे 'तत्प्रधान' कहे जाते हैं।

श्रुतिप्रतिपन्नत्वान्निर्विशेषमेव ब्रह्मावगन्तव्यं न पुनः सविशेषमिति निर्विशेषपक्षमुपपाद्य का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिः? इत्याकाङ्क्षायां "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" (ब्र० सू० ३ । २ । १५) इति चन्द्रसूर्यादीनां जलाद्युपाधिकृतनानात्ववच्च ब्रह्मणोऽप्युपाधिकृतनानात्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदाकारवतो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते ।

एवमवैयर्थ्यं नानाकारब्रह्मविषयाणां वाक्यानामिति भेदश्रुतीनामौपाधिकब्रह्मविषयत्वेनावैयर्थ्यमुक्त्वा पुनरपि निर्विशेषमेव ब्रह्मेति द्रढयितुम् "आह च तन्मात्रम्" (ब्र० सू० ३ । २ । १६) इति । "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रस-

निर्विशेषपक्षदृढीकरणम्

श्रुतियोंसे ज्ञात होनेके कारण ब्रह्मको निर्विशेष ही मानना चाहिये, सविशेष नहीं । इस प्रकार निर्विशेष पक्षका समर्थन करनेपर ऐसी आशङ्का होनेपर कि 'फिर साकारब्रह्मपर श्रुतियोंकी क्या गति होगी ?' "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि जलादि उपाधियोंके कारण प्रतीत होनेवाले चन्द्र-सूर्यादिके नानात्वके समान ब्रह्मका भी उपाधिकृत नानात्वरूप विद्यमान है । अतः उपासनाके लिये औपाधिक आकारवान् ब्रह्मके किसी आकारविशेषका उपदेश करनेमें भी कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार नानारूप ब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्य भी व्यर्थ नहीं हैं। इस तरह औपाधिकब्रह्मविषयिणी होनेसे भेद श्रुतियोंकी अव्यर्थता बतलाकर फिर भी यह दृढ करनेके लिये कि 'ब्रह्म निर्विशेष ही है' उन्होंने "आह च तन्मात्रम्" इस सूत्रकी अवतारणा की है । इस सूत्रमें "जिस प्रकार नमकका डला बाहर-भीतरसे शून्य

१. [भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें तदनुरूप आकार धारण करनेवाले] प्रकाशके समान उपाधिभेदसे सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी व्यर्थ नहीं है ।

२. श्रुतिने ब्रह्मकी चिन्मात्रताका प्रतिपादन किया है ।

घन एव । एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० उ० ४ । ५ । १३) इति श्रुत्युपन्यासेन विज्ञानव्यतिरिक्तरूपान्तराभावमुपन्यस्य "दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते" (ब्र० सू० ३ । २ । १७) इति । "अथात आदेशो नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६)। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि"(के० उ० १ । ३)। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति०उ०२।४।१)।

"प्रत्यस्तमितभेदं यत्
सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं
तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ।"
"विश्वस्वरूपवैरूप्यं
लक्षणं परमात्मनः ।"

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युपन्यासमुखेन प्रत्यस्तमितभेदमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र० सू० ३ । २ । १८) इति । यत एव

[अर्थात् बाहर-भीतर एक समान केवल घनीभूत रस ही है] इसी प्रकार यह आत्मा बाहर-भीतरके भेदसे रहित सब-का-सब घनीभूत प्रज्ञान ही है" इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए उन्होंने यह दिखलाकर कि विज्ञानसे भिन्न और कोई रूप है ही नहीं "दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते" यह सूत्र कहा है । इसमें "इससे आगे श्रुतिका यही आदेश[1] है—यह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है", "वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी परे है", "जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है", "जो भेदसे रहित, सत्तामात्र, वाणीका अविषय और स्वसंवेद्य है वही ब्रह्मसंज्ञक ज्ञान है", "सर्वरूपसे विलक्षण होना–यह परमात्माका लक्षण है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका उल्लेख करके ब्रह्म सर्वभेदशून्य ही है—ऐसा प्रतिपादन कर उन्होंने "अत[2] एव चोपमा सूर्यकादिवत्" यह सूत्र कहा है । [इसमें यह बतलाया है—] क्योंकि परमात्मा चैतन्यमात्रस्वरूप,

१. 'अथात आदेशो नेति-नेति' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको निर्विशेष प्रदर्शित करती है और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है ।

२. इसीलिये [सविशेष ब्रह्मके विषयमें] जलप्रतिबिम्बित सूर्यके समान उपमा दी जाती है ।

चैतन्यमात्ररूपो नेति नेत्यात्मको विदिताविदिताभ्यामन्यो वाचामगोचरः प्रत्यस्तमितभेदो विश्वस्वरूपविलक्षणस्वरूपः परमात्मा-विद्योपाधिको भेदः। अत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यादिरिवेत्युपमा दीयते मोक्षशास्त्रेषु।

"आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथक्पृथक्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च
जलाधारेष्विवांशुमान्॥"
(याज्ञ० ३। १४४)

"एक एव तु भूतात्मा
भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवत्॥"

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वा-
नपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥"

'यह भी नहीं, यह भी नहीं' इत्यादि रूपसे उपलक्षित स्वरूपवाला, ज्ञा और अज्ञातसे भिन्न, वाणीका अविषय सब प्रकारके भेदसे रहित औ सम्पूर्ण रूपोंसे विलक्षण स्वरूपवाल है इसलिये भेद अविद्यारूप उपाधि कारण है। इसीसे इसकी उपाधि निमित्तक अपारमार्थिकी विशेषरूपता के आशयसे ही मोक्षशास्त्रोंमें 'भे जलमें प्रतिविम्बित सूर्यादिके समा है' ऐसी उपमा दी जाती है।

"जिस प्रकार घटादि उपाधियो एक ही आकाश पृथक्-पृथक्-र भासने लगता है उसी प्रकार विभि जलाशयोंमें प्रतिविम्बित हुए सूर्य समान एक ही आत्मा अनेक-र जान पड़ता है।" "विभिन्न भूतो एक ही भूतात्मा स्थित है, जो जल दिखायी देते हुए चन्द्रमाओंके समा एक और अनेक रूपोंमें भी दे जाता है।" "जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप एक ही सूर्य भिन्न-भि जलाशयोंका अनेक रूप हो अनुगमन करता है उसी प्रव विभिन्न क्षेत्रोंमें यह एक ही अज आत्मदेव उपाधिके द्वारा अनेक र कर दिया जाता है।"

इति दृष्टान्तबलेनापि निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अम्बुवदग्रहणात्" (ब्र० सू० ३।२।१९) इत्यात्मनोऽमूर्तत्वेन सर्वगतत्वेन जलसूर्यादिवन्मूर्तसंभिन्नदेशस्थितत्वाभावाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सादृश्यं नास्तीत्याशङ्क्य "वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" (ब्र० सू० ३।२।२०) इति न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विवक्षितांशमुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। वृद्धिह्रासभाक्त्वमत्र विवक्षितम्। जलगतसूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे च ह्रसति जल-

इस प्रकार दृष्टान्तके बलसे भी यही सिद्ध करके कि ब्रह्म निर्विशेष ही है "अंम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" इस सूत्रसे यह आशङ्का की है कि आत्मा अमूर्त्त और सर्वगत है; अतः जल सूर्यादिके समान उसका मूर्त्तरूपसे किसी देशविशेषमें स्थित होना सम्भव न होनेके कारण इन दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकोंकी समता नहीं है। इसपर "वृंद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इस सूत्रसे यह दिखलाया है कि विवक्षित अंशको छोड़कर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकको सर्वांशमें समानता कोई भी नहीं दिखला सकता। यदि सर्वांशमें समानता हो जायगी तो उनका दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव ही नहीं रहेगा। यहाँ (जलसूर्यादि दृष्टान्तमें) तो उनका वृद्धिह्रासयुक्त होना ही विवक्षित है। जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके बढ़नेपर बढ़ता, जलके घटने-

१. सूर्यसे भिन्न जलके समान सविशेष ब्रह्मकी उपाधि उससे भिन्न गृहीत न होनेके कारण सूर्यके प्रतिबिम्बसे उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।

२. जिस प्रकार सूर्यप्रतिबिम्ब जलकी वृद्धि और ह्रास होनेपर स्वयं भी वृद्धि और ह्रासका भागी होता है उसी प्रकार आत्मा वास्तवमें अविकारी और एकरूप होनेपर भी देहादि उपाधियोंके अन्तर्भूत होकर उनके वृद्धि और ह्रासका भागी होता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनोंमें सामञ्जस्य होनेके कारण कोई विरोध नहीं है।

चलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तत्त्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत एवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीनिति विवक्षितांशप्रतिपादनेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यमुक्त्वा "दर्शनाच्च" (ब्र० सू० ३ । २ । २१) इति "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" (बृ० उ० २ । ५ । १८) । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) । "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० उ० ४ । १०) । "मायी सृजते विश्वमेतम्" (श्वेता० उ० ४ । ९) । "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (क० उ० २ । २ । ९ । १०) । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६ । ११) ।

पर घटता, जलके चलनेपर चलता और जलका भेद होनेपर भिन्न-सा हो जाता है, इस प्रकार वह जलके धर्मोंका अनुकरण करता है, परमार्थतः सूर्यमें वे विकार वास्तविक नहीं होते, उसी प्रकार परमार्थतः अविकारी और एकरूप होनेपर भी ब्रह्म देहादि उपाधियोंके अन्तर्गत रहनेसे उन उपाधियोंके वृद्धि-ह्रासादि धर्मोंको ग्रहण करता ही है—इस प्रकार विवक्षित अंशके प्रतिपादनसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका सामञ्जस्य बतलाकर "दर्शनाच्च" इस सूत्रांशसे "परमपुरुषने दो चरणोंवाला पुर (शरीर) बनाया, चार पैरोंवाला पुर बनाया और वह पक्षी होकर उन पुरोंमें प्रवेश कर गया", "इन्द्र मायाद्वारा अनेक रूपवाला हो जाता है", "मायाको प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर", "मायावी इस विश्वकी रचना करता है", "उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपोंके अनुरूप हो गया है", "समस्त भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है",

१. श्रुतियाँ भी देहादि उपाधियोंमें ब्रह्मका अनुप्रवेश दिखलाती हैं ।

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० उ० १ । ३ । १२)। "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृ० उ० १ । ४ । ७)। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तैत्ति० उ० २ । ६ । १) इत्यादिना परस्यैव ब्रह्मण उपाधियोगं दर्शयित्वा निर्विशेषमेव ब्रह्म । भेदस्तु जलसूर्यादिवदौपाधिको मायानिबन्धन इत्युपसंहृतवान् ।

"इस मूर्धसीमाको ही विदीर्ण कर वह इसीके द्वारा शरीरमें प्रवेश कर गया", "वह नखके अग्रभागसे लेकर शिखातक इस शरीरमें प्रवेश किये हुए है", "उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा परब्रह्मको ही उपाधिकी प्राप्ति दिखलाकर इस प्रकार उपसंहार किया है कि ब्रह्म निर्विशेष ही है; उसका जो मायाजनित भेद है वह जल-सूर्यादिके समान उपाधिके कारण है ।

प्रपञ्चस्य बाधितत्वे ब्रह्मविदनुभव-प्रदर्शनम्

किञ्च ब्रह्मविदामनुभवोऽपि प्रपञ्चस्य बाधकः । तेषां निष्प्रपञ्चात्मदर्शनस्य विद्यमानत्वात् । तथा हि तेषामनुभवं दर्शयति । "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७)। "विदिते वेद्यं नास्ति" इति । एवं निर्वाणमनुशासनम् । "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४ । ३ । ३१)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० ४ । ५ । १५)।

इसके सिवा ब्रह्मवेत्ताओंका अनुभव भी प्रपञ्चका बाधक है, क्योंकि उन्हें निष्प्रपञ्च आत्माका अनुभव रहता है । ऐसा ही यह श्रुति उनका अनुभव प्रदर्शित करती है—"जिस स्थितिमें ज्ञानीको सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उसमें उस एकत्वदर्शीके लिये क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ?" "बोध हो जानेपर कोई ज्ञेय नहीं रहता" इत्यादि । इसी प्रकार निर्वाणका भी उपदेश किया है— "जहाँ अन्य-सा हो वहाँ अन्य अन्यको देखे," किन्तु "जिस स्थितिमें इसे सब आत्मा ही हो गया है उसमें किससे किसे देखे ?"

"यदेतद्दृश्यते मूर्त-
मेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति
जगद्रूपमयोगिनः ॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्ध-
चेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति
त्वद्रूपं पारमेश्वरम् ॥"
(विष्णुपु० १ । ४ । ३९, ४१)
"निदाघोऽप्युपदेशेन
तेनाद्वैतपरोऽभवत् ।
सर्वभूतान्यशेषेण
ददर्श स तदात्मनः ॥
तथा ब्रह्म ततो मुक्ति-
मवाप परमां द्विजः ।"
(विष्णुपु० २ । १६ । १९-२०)
"अत्रात्मव्यतिरेकेण
द्वितीयं यो न पश्यति ।
ब्रह्मभूतः स एवेह
वेदशास्त्र उदाहृतः ॥"

"यह जो कुछ मूर्त्त जगत् दिखायी देता है वह ज्ञानस्वरूप आपका ही रूप है । अज्ञानीलोग भ्रान्तिज्ञानके कारण इसे जगद्रूप देखते हैं । किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानवान् पुरुष हैं वे इस सम्पूर्ण जगत्‌को आप ज्ञानस्वरूप परमात्माका ही स्वरूप देखते हैं ।" "ऋभुके उस उपदेशसे निदाघ भी अद्वैतपरायण हो गया और सब प्राणियोंको सर्वथा आत्म-स्वरूप देखने लगा । तथा उसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया । फिर उस ब्राह्मणको आत्यन्तिक मोक्षपद प्राप्त हो गया ।" "इस लोकमें जो पुरुष आत्मासे भिन्न अन्य कुछ नहीं देखता, उसीको वेद और शास्त्रोंमें ब्रह्मभूत कहा है ।"

उपनिषदा-रम्भप्रयोजनोप-संहारः

इत्येवं श्रुतिस्मृतियुक्तितोऽनुभवतश्च प्रपञ्चस्य बाधितत्वादत्यन्तविलक्षणानामसदृशरूपाणां मधुरतिक्तश्वेतपीतादीनामपि परस्पराध्यासदर्शनादमूर्तेऽप्याकाशे तलमलिनताद्यध्यासदर्शनादात्मानात्मनोरत्यन्तविलक्षणयोर्मूर्तामू-

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभवसे भी प्रपञ्च बाधित है, अत्यन्त विलक्षण और विभिन्नरूपवाले मधुर-तिक्त एवं श्वेत-पीतादि पदार्थोंका भी परस्पर अध्यास देखा जाता है और अमूर्त्त आकाशमें भी तलमलिनतादि-का अध्यास देखा गया है, इसलिये परस्पर अत्यन्त विलक्षण मूर्त्तिमान् और मूर्त्तिहीन अनात्मा एवं

र्तयोरपि तथा संभवात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति देहात्मनोरध्यासानुभवात् ।

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं
हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो
नायं हन्ति न हन्यते ॥"
(क० उ० १ । २ । १९)

इत्यादिश्रुतिदर्शनाद् "य एनं वेत्ति हन्तारम्" (गीता २ । १९) "प्रकृतेः क्रियमाणानि" (गीता ३ । २७) इतिस्मृतिदर्शनाच्चाध्यासस्य प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तय उपनिषदारभ्यते ।

आत्माका भी अध्यास होना सम्भव है तथा 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इस प्रकार देह और आत्माके अध्यासका अनुभव भी होता ही है, एवं "यदि मारनेवाला होकर किसीको मारना चाहता है अथवा मारा जानेवाला होकर अपनेको मारा हुआ मानता है—तो वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा तो न मारता है और न मारा जाता है" इत्यादि श्रुति देखी जाती है तथा "जो इसे मारनेवाला समझता है" "प्रकृतिके गुणोंसे किये जाते हुए कर्मोंको" इत्यादि स्मृति-वाक्य भी देखे जाते हैं; इसलिये इस अध्यासके नाश और आत्माकी एकताका बोध करानेवाले ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है ।

जगत्-कारण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें

ब्रह्मवादी ऋषियोंका विचार

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत्। तस्या अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते-

'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यादि श्वेताश्वतरशाखाकी मन्त्रोपनिषद् है। उसकी यह सङ्क्षिप्त टीका आरम्भ की जाती है—

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

ॐ ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं—जगत्‌का कारणभूत ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? कहाँ स्थित हैं? और हे ब्रह्मविद्‌गण! हम किसके द्वारा सुख-दुःखमें प्रेरित होकर व्यवस्था (संसारयात्रा) का अनुवर्तन करते हैं? ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि। ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे संभूय वदन्ति किं कारणं ब्रह्म किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः। अथवा कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि 'कालः स्वभावः' इति वक्ष्यमाणम्।

'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यादि जो ब्रह्मवादी थे अर्थात् जिनका स्वभाव ब्रह्मचर्चा करनेका था ऐसे लोग सब-के-सब मिलकर चर्चा करने लगे—'किं कारणं ब्रह्म' (जगत्‌का कारणभूत ब्रह्म कैसा है?) किं इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें प्रश्न किया गया है। अथवा इस जगत्‌का कारण ब्रह्म है या 'कालः स्वभावः' आदि वाक्यसे आगे बताये जानेवाले काल आदि। अथवा ब्र

अथवा किं कारणं ब्रह्म सिद्धिरूपम् उपादानभूतं किमित्यर्थः। अथवा बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुत्यैव निर्वचनान्निमित्तोपादानयोरुभयोर्वा प्रश्नः किं कारणं ब्रह्मेति। किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि? अथवा कारणमेव? कारणत्वेऽपि किं निमित्तमुतोपादानम्? अथवोभयम्? तद्वा किंलक्षणमिति वक्ष्यमाणपरिहारानुरूपेण तन्त्रेणावृत्त्या वा प्रश्नेऽपि संग्रहः कर्तव्यः; प्रश्नापेक्षत्वात्परिहारस्य।

[यदि कारण है तो वह उपादान आदि कारणोंमेंसे] कौन-सा कारण है? यानी स्वतःसिद्ध ब्रह्म क्या जगत्का उपादान कारण है? अथवा "बढ़ा हुआ है तथा बढ़ाता है इसलिये परब्रह्म कहा जाता है" इस प्रकार श्रुतिद्वारा ही ब्रह्मशब्दकी व्युत्पत्ति की जानेके कारण उसके निमित्त और उपादान दोनों ही प्रकारके कारण होनेके विषयमें 'ब्रह्म कौन कारण है' ऐसा यह प्रश्न है। [तात्पर्य यह है कि] क्या जगत्का कारण ब्रह्म है अथवा कालादि? या ब्रह्म कारण ही नहीं है? यदि कारण है भी तो निमित्त कारण है या उपादान अथवा दोनों? और उसका लक्षण क्या है? आगे इस प्रकार जो परिहार कहा गया है उसके अनुसार उन सब विषयोंका एक साथ अथवा अलग-अलग प्रश्नमें भी संग्रह कर लेना चाहिये, क्योंकि परिहार तो प्रश्नकी अपेक्षा करके ही होता है।

कुतः स्म जाताः कुतो वयं कार्यकरणवन्तो जाताः? स्वरूपेण जीवानामुत्पत्त्याद्यसंभवात्। तथा च श्रुतिः—"न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" (क० उ० १। २।

हम कहाँसे उत्पन्न हुए हैं—देह और इन्द्रियसम्पन्न हम लोगोंकी किससे उत्पत्ति हुई है? क्योंकि स्वरूपसे तो जीवोंके जन्मादि होने सम्भव हैं नहीं। ऐसी ही ये श्रुतियाँ भी हैं—"यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है",

१८) "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति" (छा० उ० ६ । ११ । ३)। "जरामृत्यू शरीरस्य" । "अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा (बृ० उ० ४ । ५ । १४) इति। तथा च स्मृतिः—"अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते इति ।

किं च, जीवाम केन—केन वा वयं सृष्टाः सन्तो जीवामेति स्थितिविषयः प्रश्नः । क्व च संप्रतिष्ठाः प्रलयकाले स्थिताः ? अधिष्ठिता नियमिताः केन सुखेतरेषु सुखदुःखेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थां हे ब्रह्मविदः सुखदुःखेषु व्यवस्थां केनाधिष्ठिताः सन्तोऽनुवर्तामह इति सृष्टिस्थितिप्रलयनियमहेतुः किमिति प्रश्नसंग्रहः ॥ १ ॥

"जीवसे रहित होकर यह शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता", "जरा-मृत्यु ये शरीरके धर्म हैं", "हे मैत्रेयि ! यह आत्मा अविनाशी और अनुच्छित्तिधर्मा (कभी उच्छिन्न न होनेवाला) है ।" ऐसा ही स्मृति भी कहती है—"वह अजन्मा शरीरग्रहण करनेसे 'जन्म लेता है' ऐसा कहा जाता है ।"

इसके सिवा [एक प्रश्न यह है—]हम किसके द्वारा जीवित रहते हैं? अर्थात् उत्पन्न होकर हम किसके द्वारा जीवन धारण करते हैं ? इस प्रकार यह स्थितिविषयक प्रश्न है । तथा कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं—प्रलय-कालमें किसमें स्थित रहते हैं ? और हे ब्रह्मविद्गण ! किसके द्वारा अधिष्ठित अर्थात् प्रेरित होकर सुखासुख यानी सुख-दुःखमें व्यवस्था (संसार-यात्रा) को बर्तते हैं? अर्थात् हे ब्रह्मवेत्ताओ ! हम किसके द्वारा प्रेरित होकर सुख-दुःखमें व्यवस्था (लोक-यात्रा) का अनुवर्तन करते हैं ? इस प्रकार किम् इत्यादि प्रश्नसमूह जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और नियमके हेतुके विषयमें है ॥ १ ॥

काल, स्वभाव आदिकी जगत्-कारणताका खण्डन

इदानीं कालादीनि ब्रह्मकारणवादप्रतिपक्षभूतानि विचारविषयत्वेन दर्शयति—

अब श्रुति ब्रह्मकारणवादके विरोधी कालादिको विचारके विषयरूपसे प्रदर्शित करती है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये कारण हैं [या नहीं] इसपर विचारना चाहिये । इनका संयोग भी [अपने शेषी] आत्माके अधीन होनेके कारण कारण नहीं हो सकता तथा जीवात्मा भी सुख-दुःखके हेतु [पुण्यापुण्य कर्मों] के अधीन है । [इसलिये वह भी कारण नहीं हो सकता] ॥ २ ॥

कालः स्वभाव इति । योनिशब्दः संबध्यते । कालो योनिः कारणं स्यात् ? कालो नाम सर्वभूतानां विपरिणामहेतुः। स्वभावः, स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः; अग्नेरौष्ण्यमिव । नियतिरविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम् ? यदृच्छाकस्मिकी

'कालःस्वभावः'इत्यादि । इन सबके साथ'योनिः' शब्दका सम्बन्ध है । क्या काल योनि–कारण हो सकता है ? सम्पूर्ण भूतोंकी रूपान्तर-प्राप्तिमें जो हेतु हैं उसको काल कहते हैं । इसी प्रकार क्या स्वभाव कारण है ? पदार्थोंकी नियत शक्तिका नाम स्वभाव है, जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता । अथवा क्या नियति कारण है ? पुण्यपापरूप जो अविषम[1] कर्म हैं वे 'नियति' कहे जाते हैं ? या यदृच्छा—

१. जिनका फल कभी विपरीत नहीं होता ।

प्राप्तिः । भूतान्याकाशादीनि वा योनिः ? पुरुषो वा विज्ञानात्मा योनिः ? इतीत्थमुक्तप्रकारेण किं योनिरिति चिन्त्या। चिन्त्यं निरूपणीयम् । केचिद्योनिशब्दं प्रकृतिं वर्णयन्ति । तस्मिन्पक्षे किं कारणं ब्रह्मेति पूर्वोक्तं कारणपदमत्राप्यनुसंधेयम् ।

कालादीनाम् अकारणत्वोपपादनम्

तत्र कालादीनामकारणत्वं दर्शयति—संयोग एषामित्यादिना । अयमर्थः—किं कालादीनि प्रत्येकं कारणमुत तेषां समूहः। न च प्रत्येकं कालादीनां कारणत्वं संभवति, दृष्टविरुद्धत्वात् । देशकालनिमित्तानां संहतानामेव लोके कार्यकरत्वदर्शनात् । न चाप्येषां कालादीनां संयोगः समूहः कारणम्, समूहस्य संहतेः परार्थत्वेन शेषत्वेन शेषिण आत्मनो विद्य-

आकस्मिक घटना अथवा आकाशादि भूत कारण हैं ? या पुरुष यानी विज्ञानात्मा जगत्का कारण है ? इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे यह विचारना यानी बतलाना चाहिये कि इसमें कौन कारण है ? कोई 'योनिः' शब्दका अर्थ प्रकृति बतलाते हैं ? उस अवस्थामें पूर्व मन्त्रमें 'किं कारणं ब्रह्म' इस प्रश्नमें आये हुए कारण-पदकी यहाँ भी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये ।

इसपर श्रुति 'संयोग एषाम्' इत्यादि वाक्यसे यह प्रदर्शित करती है कि काल आदि कारण नहीं है । इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—क्या काल, स्वभाव आदिमेंसे प्रत्येक ही कारण है अथवा उन सबका समूह ? कालादिमेंसे प्रत्येक तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । लोकमें देश-कालादि निमित्तोंको परस्पर मिलकर ही कार्य करते देखा गया है । और इन कालादिका संयोग यानी समूह भी कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि समूह यानी संहति परार्थ अर्थात् शेष है और उसका शेषी आत्मा विद्यमान है, अतः स्वतन्त्र न

मानत्वादस्वातन्त्र्यात्सृष्टिस्थिति-प्रलयनियमलक्षणकार्यकरणत्वायोगात् ।

आत्मा तर्हि कारणं स्यादेवात आह—आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोरिति । आत्मा जीवोऽप्यनीशोऽस्वतन्त्रो न कारणम्, अस्वातन्त्र्यादेव चात्मनोऽपि सृष्ट्यादिहेतुत्वं न संभवतीत्यर्थः । कथमनीशत्वम्? सुखदुःखहेतोः सुखदुःखहेतुभूतस्य पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो विद्यमानत्वात्कर्मपरवशत्वेनास्वातन्त्र्याच्च । त्रैलोक्यसृष्टिस्थितिनियमे सामर्थ्यं न विद्यत एवेत्यर्थः । अथवा सुखदुःखादिहेतुभूतस्याध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य जगतोऽनीशो न कारणम् ॥ २ ॥

आत्मनः सृष्टिकारणत्व-निरासः

होनेके कारण वह सृष्टि, स्थिति, प्रलय और प्रेरणारूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ।

तब तो आत्मा कारण हो ही सकता है, इसपर कहते हैं— 'आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।' अर्थात् आत्मा यानी जीव भी अनीश—अस्वतन्त्र है—वह भी सृष्टि आदिका कारण नहीं है । तात्पर्य यह है कि अस्वतन्त्रताके ही कारण आत्माका भी सृष्टि आदिमें हेतु होना सम्भव नहीं है । इसकी अस्वतन्त्रता कैसे है? [सो बताते हैं—] सुखदुःखहेतोः—सुख-दुःखके हेतुभूत पुण्यापुण्यरूप कर्म विद्यमान हैं, अतः उन कर्मोंके अधीन होनेसे इसकी अस्वतन्त्रता है । इसीसे त्रिलोकीकी सृष्टि, स्थिति और नियमनमें इसका सामर्थ्य नहीं ही है—यही इसका अभिप्राय है । अथवा [यों समझना चाहिये कि] आत्मा सुख-दुःखादिके हेतुभूत आध्यात्मिकादि भेदोंवाले जगत्‌का ईश—कारण नहीं है* ॥ २ ॥

---

* क्योंकि जो आध्यात्मिकादि भेदोंवाला जगत् आत्माके बन्धन और दुःखका कारण है उसकी वह स्वतन्त्रतासे स्वयं ही क्यों रचना करेगा ?

ध्यानके द्वारा ऋषियोंको कारणभूता
ब्रह्मशक्तिका साक्षात्कार

एवं पक्षान्तराणि निराकृत्य प्रमाणान्तरागोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरमपश्यन्तो ध्यानयोगानुगमेन परममूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिर इत्याह —

इस प्रकार अन्य सब प[क्षोंका] निराकरण कर अब श्रुति यह बत[लाती] है कि उन ब्रह्मवेत्ताओंने प्रमाणा[न्तरसे] ज्ञात न होनेवाले उस मूलत[त्त्वके] विषयमें अन्य किसी उपायकी न देखकर ध्यानयोगके अनुशी[लनके] द्वारा उस परममूलकारणको स्व[यं ही] अनुभव कर लिया—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

उन्होंने ध्यानयोगका अनुवर्तन कर अपने गुणोंसे आच्छ[न्न] परमात्माकी शक्तिका साक्षात्कार किया; जो (परमात्मा) कि अकेले कालसे लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणोंके अधिष्ठान हैं ॥ ३ ॥

ते ध्यानयोगेति । ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्यस्वीकारोपायः, तमनुगताः समाहिता अपश्यन् दृष्टवन्तो देवात्मशक्तिमिति ।

'ते ध्यानयोगानुगताः' इ[त्यादि।] ध्यान चित्तकी एकाग्रताको [कहते] हैं; वही योग है—जिसके [द्वारा] चित्तको युक्त किया जाय [इस] व्युत्पत्तिके अनुसार ध्येय [के] ग्रहणका उपाय ही योग है । [उसका] अनुगमन कर अर्थात् समाहि[त होकर] उन्होंने देवात्मशक्तिका दर्श[न—] साक्षात्कार किया ।

पूर्वोक्तमेव प्रश्नसमुदायपरिहाराणां सूत्रमुत्तरत्र प्रत्येकं प्रपञ्चयिष्यते। तत्रायं प्रश्नसंग्रहः-किं ब्रह्म कारणम्? आहोस्वित्कालादि? तथा किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कार्यकारणविलक्षणम्? अथवा कारणं चाकारणं वा? कारणत्वेऽपि किमुपादानमुत निमित्तम्? अथ चोभयकारणं ब्रह्म किंलक्षणम्? अकारणं वा ब्रह्म किंलक्षणम्? इति।

तत्रायं परिहारः—न कारणं नाप्यकारणं न चोभयं नाप्यनुभयं न च निमित्तं न चोपादानं न चोभयम्। एतदुक्तं भवति—अद्वितीयस्य परमात्मनो न स्वतः कारणत्वमुपादानत्वं निमित्तत्वं च। यदुपाधिकमस्य कारणत्वादि तदेव कारणं निमित्तमुपपाद्य तदेव प्रयोजकं निष्कृष्य दर्श-

प्रश्नसमुदाय और उसके समाधानोंका जो सूत्र पहले कहा जा चुका है उसीको अब आगे प्रत्येकका विस्तार करके कहा जायगा। इनमें प्रश्नसमुदाय तो इस प्रकार है—क्या ब्रह्म जगत्का कारण है अथवा कालादि? तथा ब्रह्म कारण है या कार्य-कारणसे अतीत? अथवा ब्रह्म कारण है या नहीं? यदि कारण है भी तो उपादान कारण है या निमित्त कारण? अथवा दोनों प्रकारका कारण होनेपर भी ब्रह्मका लक्षण क्या है? और यदि वह कारण नहीं है तो भी उसका क्या लक्षण है?

इस प्रश्नसमुदायका यह उत्तर है—ब्रह्म न कारण है, न अकारण है, न कारणाकारण उभयरूप है, न इन दोनोंसे भिन्न है, न निमित्त कारण है, न उपादान कारण है और न दोनों प्रकारका कारण है। यहाँ कहना यह है कि अद्वितीय परमात्माका कारणत्व, उपादानत्व अथवा निमित्तत्व स्वतः कुछ भी नहीं है। जिस उपाधिके कारण इसका कारणत्वादि है उसी कारण यानी निमित्तका उपपादन कर और उसीको प्रयोजक निश्चित करके

यति—देवात्मशक्तिमिति। देवस्य द्योतनादियुक्तस्य मायिनो महेश्वरस्य परमात्मन आत्मभूतामस्वतन्त्रां न सांख्यपरिकल्पितप्रधानादिवत्पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिं कारणमपश्यन्। दर्शयिष्यति च—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० उ० ४। १०) इति।

तथा ब्राह्मे—"एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्था।" तथा च—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९। १०) इति।

स्वगुणैः प्रकृतिकार्यभूतैः पृथिव्यादिभिश्च निगूढां संवृतां कार्यकारेण कारणाकारस्याभिभूतत्वात्कार्यात्पृथक्स्वरूपेणोपलब्धुमयोग्यामित्यर्थः। तथा च प्रकृतिकार्यत्वं गुणानां दर्शयति व्यासः—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।" (गीता १४। ५) इति।

'देवात्मशक्तिम्' इत्यादि वाक्य दिखाते हैं—उन्होंने देव-द्योतनादियुक्त मायावी महेश्वर-परमात्माकी स्वरूपभूता—अस्वतन्त्र शक्तिको कारणरूपसे देख सांख्यमतद्वारा कल्पना किये हु प्रधानादिके समान उससे भिन्न कि स्वतन्त्रा शक्तिको नहीं। आगे श्रु यह दिखलावेगी भी—"माया प्रकृति जानो और-मायावी महेश्वर।"

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें कहा है—"यह चौबीस प्रकारके भेदोंवाली मा परमात्मासे प्रकट हुई उसीकी प प्रकृति है।" तथा गीतामें क है—'मुझ अधिष्ठानके द्वारा प्रकृ चराचरको उत्पन्न करती है।

[कैसी शक्तिको देखा—] अपने गुणोंसे प्रकृतिके कार्य पृथ्वी आदिसे निगूढ—आच्छा थी। अर्थात् कारणका स्व कार्यके स्वरूपसे दब जानेके का जो कार्यसे पृथक् अपने स्वरू उपलब्ध होनेयोग्य नहीं थी। गु प्रकृतिके कार्य हैं—यह ब "सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृ उत्पन्न हुए गुण हैं।" इस वाक व्यासजी भी दिखलाते हैं।

कोऽसौ देवो यस्येयं विश्वजननी शक्तिरभ्युपगम्यत इत्यत्राह—यः कारणानीति । यः कारणानि निखिलानि तानि पूर्वोक्तानि कालात्मयुक्तानि कालात्मभ्यां युक्तानि कालपुरुषसंयुक्तानि स्वभावादीनि 'कालः स्वभावः' इति मन्त्रोक्तान्यधितिष्ठति नियमयत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तस्य शक्तिं कारणमपश्यन्निति वाक्यार्थः ।

यह विश्वको उत्पन्न करनेवाली शक्ति जिसकी समझी जाती है वह देव कौन है ? इसपर कहते हैं—'यः कारणानि' इत्यादि । जो एक अद्वितीय परमात्मा पहले बतलाये हुए कालात्मयुक्त समस्त कारणोंको—काल और आत्मासे युक्त अर्थात् काल और पुरुषसे संयुक्त स्वभावादिको, जो कि, 'कालः स्वभावः' इत्यादि मन्त्रमें बतलाये गये हैं, अधिष्ठित—नियमित करता है, उसीकी शक्तिको जगत्के कारणरूपसे देखा—ऐसा इस वाक्यका तात्पर्य है ।

अथवा देवात्मशक्तिं देवात्मनेश्वररूपेणावस्थितां शक्तिम् । तथा च—

"सर्वभूतेषु सर्वात्मन्या शक्तिरपरा तव ।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै परेश्वर ॥
यातीतागोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा ।
ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम्" ॥ इति प्रपञ्चयिष्यति स्वभावादीना-

अथवा देवात्मशक्तिम्—देवात्मना अर्थात् ईश्वररूपसे स्थित शक्तिको देखा; ऐसा ही यह वाक्य भी है—"हे सर्वात्मन् ! आपकी जो गुणोंकी आश्रयभूता अपरा शक्ति समस्त भूतोंमें स्थित है, हे परमेश्वर ! उस नित्या शक्तिको नमस्कार है । जो वाणी तथा मनसे अतीत और अगोचर एवं निर्विशेष है तथा ज्ञान और ध्यानसे जिसका भलीभाँति विवेक हो सकता है उस परा देवताकी मैं वन्दना करता हूँ ।" इसके अतिरिक्त श्रुति स्वभावादि जगत्के कारण नहीं हैं,

मकारणत्वमज्ञानस्यैव कारणत्वं "स्वभावमेके कवयो वदन्ति" (श्वेता० उ० ६ । १) इत्यादि । "मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता० उ० ४ । ९) । "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" (श्वेता० उ० ३ । २) । "एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्" (श्वेता० उ० ४ । १) इत्यादि । स्वगुणैरीश्वरगुणैः सर्वज्ञत्वादिभिर्वा सत्त्वादिभिर्निगूढां कार्यकारणविनिर्मुक्तपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमानाम् ।

कोऽसौ देवः ? यः कारणानीत्यादि पूर्ववत् । अथवा देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां जगदुदयस्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां शक्तिमिति । तथा चोक्तम्—

अज्ञान ही कारण है—इस बातका अ
विस्तारपूर्वक वर्णन करेगी; यथा "के
कोई विद्वान् स्वभावको ही जगत्
कारण बतलाते हैं" इत्यादि, "मा
परमेश्वर इस विश्वकी रचना कर
है", एक रुद्र ही है, परमार्थद
ब्रह्मवेत्ता दूसरेकी अपेक्षा न
रखते", 'वर्ण (जाति) अ
विभेदोंसे रहित जिन एकमात्र-
अद्वितीय परमात्माने अपनी ना
प्रकारकी शक्तियोंके योगसे [अने
वर्णोंकी सृष्टि की है]" इत्यादि
[कैसी शक्तिको देखा ?] अ
गुणोंसे यानी सर्वज्ञत्वादि ईश्व
गुणोंसे अथवा सत्त्वादि प्रकृति
गुणोंसे निगूढ देखा; अर्थात्
कार्यकारणभावसे रहित पूर्णानन्
द्वितीय परब्रह्मसे अभिन्न होने
कारण उपलब्ध नहीं हो सक
[ऐसी शक्तिको देखा] ।

वह देव कौन है ? [इसका उत्तर
हैं—] जो सब कारणोंका अधिष्ठान है
इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये
अथवा देव यानी परमेश्वरकी स्वरू
भूता अर्थात् जगत्की उत्पत्ति
स्थिति और लयकी हेतुभूता ब्रह्म
विष्णु और शिवरूपा शक्ति
देखा । ऐसा ही कहा भी है—

"शक्तयो यस्य देवस्य
ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः" इति ।
"ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्म-
न्प्रधाना ब्रह्मशक्तयः"
इति च ।

स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः । [स]त्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा [म]हेश्वरः सत्त्वाद्युपाधिसंबन्धात्स्व-रूपेण निरुपाधिकपूर्णानन्दाद्वि[ती]यब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमानाः । [प]रस्यैव ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकार्यं [कु]र्वन्तोऽवस्थाभेदमाश्रित्य शक्ति[भे]दव्यवहारो न पुनस्तत्त्वभेदमा[श्रि]त्य । तथा चोक्तम्—

"सर्गस्थित्यन्तकरणीं
ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवा-
नेक एव जनार्दनः" इति ।
(विष्णु० पु० १ । २ । ६६)

प्रथममीश्वरात्मना मायिरूपे[ण]ावतिष्ठते ब्रह्म । स पुनर्मूर्ति-रूपेण त्रिधा व्यवतिष्ठते । तेन च रूपेण सृष्टिस्थितिसंहाररूप-नियमनादिकार्यं करोति । तथा

"जिस देवकी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपा शक्तियाँ हैं" इत्यादि तथा "हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये ब्रह्मकी प्रधान शक्तियाँ हैं" इत्यादि ।

'स्वगुणैः' अर्थात् सत्त्व, रज और तमसे युक्त । सत्त्वादि गुणरूप उपाधिके कारण ही वह सत्त्वसे विष्णु, रजसे ब्रह्मा और तमसे महादेव कहा जाता है, ये सब स्वतः निरु-पाधिक पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे तो उपलब्ध हो ही नहीं सकते । ये परब्रह्मके ही सृष्टि आदि कार्य करते हैं, इसलिये अवस्थाभेदके आधारपर इनमें शक्तिभेदका व्यवहार होता है, तात्त्विक भेदके कारण नहीं । ऐसा ही कहा भी है—"वह एक ही भगवान् जनार्दन उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप संज्ञाओंको प्राप्त हो जाता है ।"

परब्रह्म पहले तो ईश्वरस्वरूप मायामयरूपसे स्थित होता है । फिर वह मूर्त्तरूप होकर तीन प्रकारका हो जाता है । उस त्रिविधरूपसे वह जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, संहार और नियमनादि कार्य करता है । इसी प्रकार श्रुति भी

च श्रुतिः परस्य शक्तिद्वारेण नियमनादिकार्यं दर्शयति—"लोकानीशत ईशनीभिः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः" (श्वेता० उ० ३ । २) इति । ईशनीभिर्जननीभिः परमशक्तिभिरिति विशेषणात् । "ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्प्रधाना ब्रह्मशक्तयः" इति स्मृतेः परमशक्तिभिरिति परदेवतानां ग्रहणम् ।

अथवा देवात्मशक्तिमिति देवश्चात्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य ब्रह्मणोऽवस्थाभेदास्तां प्रकृतिपुरुषेश्वराणां स्वरूपभूतां ब्रह्मरूपेणावस्थितां परात्परतरां शक्तिं कारणमपश्यन्निति । तथा च त्रयाणां स्वरूपभूतं प्रदर्शयिष्यति—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च

शक्तिके द्वारा परमात्माके नियमन कार्य प्रदर्शित करती है । "परमा अपनी ईशनी शक्तियोंसे लोको शासन करता है, वह सभी प्राणि भीतर विराजमान है । उसने स लोकोंकी सृष्टि करके उसकी करते हुए प्रलयकाल आनेपर स अपनेमें लीन कर लिया" इत्या यहाँ 'ईशनीभिः'——उत्पत्तिका परमशक्तियोंसे ऐसा विशेषण है [इससे जाना जाता है कि ही अपनी शक्तियोंद्वारा सृष्टि अ कार्य करता है] । तथा "हे ब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु और महादेव——ये ब्रह्म प्रधान शक्तियाँ हैं" इस स्मृ अनुसार 'परमशक्तिभिः' इस पदसे परदेवताओंका ही ग्रहण होता है

अथवा 'देवात्मशक्तिम्'——देव आत्मा और शक्ति——ये जिस परब्रह्म अवस्थाभेद हैं उस प्रकृति, पुरुष ईश्वरकी स्वरूपभूता ब्रह्मरूपसे परात्पर शक्तिको उन्होंने कार रूपसे देखा; ऐसा ही इन तीनोंके रूपभूत ब्रह्मका "भोक्ता (जीव), भो (प्राकृत प्रपञ्च) और प्रेरक (अ र्यामी) परमात्मा इन तीनोंके स्वरूप

मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १ । १२) "अयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १ । ९) इति । स्वगुणैर्ब्रह्मपरतन्त्रैः प्रकृत्यादिविशेषणैरुपाधिभिर्निगूढाम् । तथा च दर्शयिष्यति—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६ । ११) इति । "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" (क० उ० १ । २ । १२) । "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २ । १ । १) । "इहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः" इति श्रुत्यन्तरम् । यः कारणानीति पूर्ववत् ।

जानकर फिर तीन भेदोंमें बताये हुए समस्त तत्त्वोंको ब्रह्म ही समझे', तथा "जिस समय इन तीनोंको ब्रह्मरूपसे अनुभव करता है।" इन वाक्योंसे श्रुति उल्लेख करेगी । [उस शक्तिको] स्वगुणैः—ब्रह्मके आश्रित प्रकृति आदि विशेषणरूप उपाधियोंसे आच्छादित देखा । ऐसा ही "समस्त भूतोंमें छिपा हुआ एक देव है" इत्यादि वाक्यसे श्रुति आगे दिखावेगी । तथा इसी अर्थमें "उस कठिनतासे दीखनेवाले प्रच्छन्नरूपसे अनुप्रविष्टको" "जो बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए उस देवको जानता है" "इसी देहके भीतर विद्यमान रहते हुए भी इन्द्रियाँ उसे नहीं जानतीं" इत्यादि अन्य श्रुतियाँ भी हैं । 'यः कारणानि' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है ।

अथवा देवात्मनो द्योतनात्मनः प्रकाशस्वरूपस्य ज्योतिषां ज्योतीरूपस्य प्रज्ञानघनस्वरूपस्य परमात्मनो जगदुदयस्थितिलयनियमनविषयां शक्तिं सामर्थ्यमपश्यन्निति स्वगुणैः स्वव्यष्टिभूतैः सर्वज्ञसर्वेशितृत्वादिभिर्निगूढां

अथवा देवात्मा—द्योतनात्मक-प्रकाशस्वरूप अर्थात् समस्त तेजोंके तेज प्रज्ञानघनमूर्ति परमात्माकी जगत्का सृजन, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाली शक्ति अर्थात् सामर्थ्यको देखा, जो स्वगुणैः—सर्वज्ञ-सर्वेशितृत्वादि अपने ही अंशभूत गुणोंसे आच्छादित

तत्तद्विशेषरूपेणावस्थितत्वात्स्वरूपेण शक्तिमात्रेणानुपलभ्यमानाम् । तथा च मानान्तरवेद्यां शक्तिं दर्शयिष्यति—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"
(श्वेता० उ० ६ । ८)

इति । समानमन्यत् ।

कारणं देवात्मशक्तिमिति प्रश्ने परिहारे च ये ये पक्षभेदाः प्रदर्शितास्ते सर्वे संगृहीताः । उत्तरत्र सर्वेषां प्रपञ्चनादप्रस्तुतस्य प्रपञ्चनायोगात्प्रश्नोत्तरदर्शनाच्च । समासव्यासधारणस्य च विदुषा-

होनेके कारण उन-उन विशेषरूपोंसे स्थित रहनेके कारण अपने शक्तिमात्र शुद्धरूपसे उपलब्ध नहीं हो सकती । इसी प्रकार आगे चलकर श्रुति उस शक्तिको अन्य किन्हीं प्रमाणोंसे अज्ञेय ही प्रदर्शित करेगी । "उस परमात्माका कोई कार्य (देह) या करण (इन्द्रिय) नहीं है; उसके समान या उससे अधिक भी कोई नहीं है । उसकी नाना प्रकारकी पराशक्ति और स्वाभाविक ज्ञानके प्रभावसे होनेवाली क्रिया सुनी जाती है ।" शेष अर्थ पूर्ववत् है

'किं कारणम्' और 'देवात्मशक्तिम्' इस प्रश्न और उत्तरमें जो-जो पक्षभेद दिखाये गये हैं उन सबका यहाँ श्रुतिमें संक्षेपमें संग्रह किया हुआ है; क्योंकि आगे इन सबका विस्तारसे निरूपण किया गया है । तथा अप्रस्तुत विषयका विस्तार करना उचित नहीं हो और [इनके विषयमें तो] प्रश्नोत्तर देखे गये हैं ।* इनका संक्षेप और विस्तारसे जो वर्णन किया गया

* इससे भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त पक्ष श्रुतिसम्मत ही है, क्योंकि य[हाँ] जितने पक्षान्तर दिखाये गये हैं उन सबमें प्रमाणपूर्वक श्रुतिकी भी सहमति दिख[ला]ई ही गयी है ।

मिष्टत्वात्। तथा चोक्तम्——"इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्" इति। तथा च श्रुत्यन्तरे सकृच्छ्रुतस्य गोपामितिपदस्य व्याख्याभेदः श्रुत्यैव प्रदर्शितः—'अपश्यं गोपामित्याह प्राणा वै गोपाः' इति। 'अपश्यं गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः' इति। 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यारभ्य 'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' इति सकृच्छ्रुतस्य ब्रह्मपदस्य निमित्तोपादानरूपेणार्थभेदः श्रुत्यैव दर्शितः ॥ ३ ॥

वह तो विद्वानोंको इष्ट होनेके कारण है। ऐसा ही कहा भी है——"लोकमें संक्षेप और विस्तारपूर्वक विषयको अवधारण करना विद्वानोंको इष्ट ही है" इसी प्रकार एक दूसरी श्रुतिमें एक बार आये हुए 'गोपाम्' इस पदकी व्याख्याका भेद स्वयं श्रुतिने ही दिखाया है। वहाँ '¹अपश्यं गोपामित्याह प्राणा वै गोपाः' ऐसा कहा है, और फिर दुबारा '²अपश्यं गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः' ऐसा कहा है। इसी प्रकार 'यह ब्रह्म क्यों कहा जाता है' ऐसा कहकर 'बढ़ा हुआ है और बढ़ाता है इसलिये यह परब्रह्म कहा जाता है' ऐसा कहकर श्रुतिमें एक बार आये हुए 'ब्रह्म' पदका स्वयं श्रुतिने ही निमित्त और उपादानभेदसे अर्थभेद दिखलाया है ॥ ३ ॥

एवं तावद् 'देवात्मशक्तिं' 'यः

इस प्रकार यहाँतक 'परमात्माकी शक्तिको देखा' और 'जो

१. मैंने गोपा (पालन करनेवाले) का दर्शन किया, प्राण ही गोपा हैं।
२. मैंने गोपाका दर्शन किया वह सूर्य ही गोपा है।

कारणानि निखिलानि कालात्मना युक्तान्यधितिष्ठत्येकः' इत्येकस्याद्वितीयस्य परमात्मनः स्वरूपेण शक्तिरूपेण च निमित्तकारणोपादानकारणत्वं मायित्वेनेश्वररूपत्वं देवतात्मत्वसर्वज्ञत्वादिरूपत्वममायित्वेन सत्यज्ञानानन्दाद्वितीयरूपत्वं च समासेन श्रुत्यर्थाभ्यामभिहितम् । इदानीं तमेव सर्वात्मानं दर्शयति कार्यकारणयोरनन्यत्वप्रतिपादनेन। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति निदर्शनेनाद्वितीयापूर्वानपरनेतिनेत्यात्मकवागगोचराशनायाद्यसंस्पृष्टप्रत्यस्तमितभेदचित्सदानन्दब्रह्मात्मत्वं प्रदर्शयितुमनाः प्रकृत्यैव प्रपञ्चभ्रान्तामवस्थां प्राप्तस्य परब्रह्मण ईश्वरात्मना सर्वज्ञत्वापहतपाप्मादिरूपेण देवतात्मना

अकेले ही काल और आत्माके सहित सबका अधिष्ठान है' इन दो श्रुति अर्थोंसे एक ही परमात्माके स्वरू और शक्तिरूपसे निमित्त औ उपादान कारण होनेका, मायावी रूपसे ईश्वर, देवता और सर्वज्ञा होनेका और अमायिकरूप से सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ए अद्वितीय होनेका संक्षेपमें वर्ण किया गया । अब का और कारणकी अभिन्नता प्रतिपादन करती हुई श्रुति उसी सर्वरूप दिखलाती है । तथा "विका वाणीसे आरम्भ होनेवाला नामम है, केवल मृत्तिका ही सत्य है इस दृष्टान्तके द्वारा समर्थित अद्वितीय, कार्यकारणभावशून् नेति-नेतिस्वरूप, वाणीका अविष क्षुधादि विकारोंसे असंस्पृष्ट, सर्वभे रहित, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मत है उसे प्रदर्शित करनेकी इच्छ स्वभावसे ही प्रपञ्चरूप भ्रा मयी अवस्थाको प्राप्त हुए पर की जो सर्वज्ञत्व और पापशून्यत्वा रूप ईश्वरभावसे, ब्रह्मादि

ब्रह्मादिरूपेण कार्यादिरूपेण वैश्वानरादिरूपेण च मोक्षापेक्षितशुद्धयर्थाम् "स यदि पितृलोककामः" (छा० उ० ८ । २ । १) इति विश्वैश्वर्यार्थाम् "मां वा नित्यं शङ्करं वा प्रयाति" इत्यादिदेवतासायुज्यप्राप्त्यर्थां वैश्वानरादिप्राप्त्यर्थां चोपासनामशेषलौकिकवैदिककर्मप्रसिद्धिं च दर्शयति । यदि कार्यकारणरूपेण स्वरूपेण चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना च व्यवस्थितं न स्यात्तदा भोग्यभोक्तृनियन्त्राभावे संसारमोक्षयोरभाव एव स्यात् । अधिकारिणोऽभावेन साधनभूतस्य प्रपञ्चस्याभावात् । तत्फलदातुश्चेश्वरस्याभावात् । तथा संसारादिहेतुभूतमीश्वरं दर्शयति—"संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" इति । तथा च संसारमोक्ष-

देवभावसे, [आकाशादिरूप] कार्यभावसे और वैश्वानरादिरूपसे मोक्षापेक्षित चित्तशुद्धि तथा "यदि वह पितृलोककी कामनावाला होता है" इत्यादि श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण ऐश्वर्यप्राप्ति, "वह सर्वदा मुझे या शङ्करको प्राप्त होता है" इत्यादि प्रमाणके अनुसार इष्टदेवसे सायुज्यप्राप्ति एवं वैश्वानरादि भावोंकी प्राप्तिके लिये उपासना है उसको तथा सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्मपरम्पराको प्रदर्शित करती है । यदि परमात्मा कार्य-कारणरूपसे और स्वरूपतःसच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित न होता तो भोक्ता, भोग्य और नियन्ताका अभाव हो जानेसे संसार और मोक्षका भी अभाव हो जाता; क्योंकि अधिकारीके न रहनेसे न तो उसका साधनभूत प्रपञ्च रहता है और न उसे साधनका फल देनेवाला ईश्वर ही । तथा "[ईश्वर ही] संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है" यह शास्त्रवाक्य संसारादिके हेतुभूत ईश्वरको सिद्ध करता है । और

योरभाव एव स्यात् । तत्सिद्ध्यर्थं प्रपञ्चाद्यवस्थानं दर्शयति—

"एकं पादं नोत्क्षिपति
सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
स चेदविन्ददानन्दं
न सत्यं नानृतं भवेत् ॥"

इति सनत्सुजातोऽप्येकं पादं नोत्क्षिपतीत्यादि । तथा च श्रुतिः—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छा० उ० ३ । १२ । ६) इति । तत्र प्रथमेन मन्त्रेण सर्वात्मानं ब्रह्म चक्रं दर्शयति द्वितीयेन नदीरूपेण—

ईश्वरके न रहनेपर तो संसार औ[र] मोक्षका अभाव ही हो जाना चाहि[ये] था । अतः उसकी सिद्धिके लि[ये] सनत्सुजातजी भी "एकं पा[दं] नोत्क्षिपति" इत्यादि वाक्यसे य[ह] बतलाते हुए कि "हंस (परमात्मा) जल (संसार) से ऊपर रहते [हुए] भी अपना एक पाद नहीं निकालता यदि वह [स्वरूपभूत] आनन्द[का] अनुभव करने लगे तो न स[त्य] (मोक्ष) ही रहे और न मिथ्या (संसार) ही" ईश्वरकी सिद्धि[के] लिये प्रपञ्चादिकी स्थिति दिखल[ाते] हैं । ऐसा ही "सम्पूर्ण भूत परमात्म[ा]के एक पाद हैं और उसके अमृ[त]मय तीन पाद द्युलोकमें हैं" यह श्रुति भी बतलाती है । य[ह] श्रुति पहले मन्त्रसे सर्वात्मा ब्रह्म[को] चक्ररूपसे और दूसरे मन्त्रसे न[दी]रूपसे प्रदर्शित करती है—

कारण-ब्रह्मका चक्ररूपसे वर्णन

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४

उस एक नेमि, तीन वृत, सोलह अन्त, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एकपाश, तीन मार्गों तथा [पाप-पुण्य] दोनोंके निमित्तभूत एक मोहवाले कारणको [उन्होंने देखा*] ॥ ४ ॥

तमेकेति । य एकः कारणानि निखिलान्यधितिष्ठति तमेकनेमिं योनिः कारणमव्याकृतमाकाशं परमव्योम माया प्रकृतिः शक्तिस्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतमव्यक्तमित्येवमादिशब्दैरभिलप्यमानैका कारणावस्था नेमिरिव नेमिः सर्वाधारो यस्याधिष्ठातुरद्वितीयस्य परमात्मनस्तमेकनेमिम् । त्रिवृतं त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रकृतिगुणैर्वृतम् ।

षोडशको विकारः पञ्च भूतान्येकादशेन्द्रियाण्यन्तोऽवसानं विस्तारसमाप्तिर्यस्यात्मनस्तं षोड-

'तमेकनेमिम्……'इत्यादि । जो अकेला ही समस्त कारणोंमें अधिष्ठित है, उस एक नेमिवालेको [उन्होंने देखा ।] जो योनि, कारण, अव्याकृत, आकाश, परव्योम, माया, प्रकृति, शक्ति, तम, अविद्या, छाया, अज्ञान, अनृत और अव्यक्त इत्यादि शब्दोंसे कही जाती है वह एक कारणावस्था ही जिस अधिष्ठाता अद्वितीय परमात्माकी नेमिके समान नेमि अर्थात् सम्पूर्ण कार्यवर्गका आधार है ऐसे उस एक नेमिवाले और 'त्रिवृतम्'—सत्त्व, रज, तमरूप प्रकृतिके तीन गुणोंसे वृत (घिरे हुए) परमात्माको [कारणरूपसे देखा] ।

तथा सोलह विकार अर्थात् पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ—ये जिस आत्माके अन्त—अवसान यानी विस्तारकी समाप्ति हैं उस सोलह

* अथवा अगले मन्त्रके क्रियापद 'अधीमः' का अध्याहार करके 'हम जानते हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिये ।

शान्तम् । अथवा प्रश्नोपनिषदि "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" (६ । २) इत्यारभ्य "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्" (६ । ४) इत्यादिना प्रोक्ता नामान्ताः षोडशकला अवसानं यस्येति । अथवैकनेमिमिति कारणभूताव्याकृतावस्थाभिहिता । तत्कार्यसमष्टिभूतविराट्सूत्रद्वयं तद्व्यष्टिभूतभूरादिचतुर्दश भुवनान्यन्तोऽवसानं यस्य प्रपञ्चात्मनावस्थितस्य तं षोडशान्तम् ।

शतार्धारम् । पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्या अरा इव यस्य तं शतार्धारम् । पञ्च विपर्ययभेदाः— तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धतामिस्र इति । अशक्तिरष्टा-

अन्तोंवाले; अथवा प्रश्नोपनिषद्में "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" यहाँसे लेकर "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्" इत्यादि मन्त्रसे कही हुई जो [प्राणसे लेकर] नामपर्यन्त सोलह कलाएँ हैं वे ही जिसका अवसान हैं, [उस आत्माको कारणरूपसे देखा] । अथवा 'एकनेमिम्' इस पदसे कारणभूता अव्याकृतावस्थाका वर्णन किया गया है, उसके समष्टिकार्यभूत विराट् और सूत्रात्मा ये दो और व्यष्टिकार्यभूत भूः आदि चौदह भुवन—ये सोलह जिस प्रपञ्चरूपसे स्थित परमात्माके अन्त हैं उस षोडशान्तको [कारणरूपसे देखा] ।

पचास अरोंवाले—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेद जिसके अरोंके समान हैं उस पचास अरोंवालेको [देखा] । तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये पाँच विपर्ययके भेद हैं । अशक्ति अट्ठाईस

१. प्रश्नोपनिषद्के षष्ठ प्रश्नमें निम्नलिखित सोलह कलाएँ बतायी हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम । यहाँ 'कला' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया, सा कला । अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन (ढका हुआ) है उसे कला कहते हैं । इन्होंने ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपको ढक रखा है, इसलिये ये कलाएँ हैं ।

विंशतिधा । तुष्टिर्नवधा । अष्टधा सिद्धिः । एते पञ्चाशत्प्रत्ययभेदाः । तत्र तमसो भेदोऽष्टविधः । अष्टसु प्रकृतिष्वनात्मस्वात्मप्रतिपत्तिविषयभेदेनाष्टविधत्वप्रतिपत्तेः । मोहस्य चाष्टविधो भेदः । अणिमादिशक्तिर्मोहः । दशविधो महामोहः । दृष्टानुश्रविकशब्दादिविषयेषु पञ्चसु पञ्चस्वभिनिवेशो महामोहः । दृष्टानुश्रविकभेदेन तेषां दशविधत्वम् । तामिस्रोऽष्टादशविधः । दृष्टानुश्रविकेषु दशसु विषयेष्वष्टविधैरैश्वर्यैः प्रयतमानस्य तदसिद्धौ यः क्रोधः स तामिस्रोऽभिधीयते । अन्धतामिस्रोऽप्यष्टादशविधः । अष्टविधैश्वर्ये दशसु विषयेषु भोग्यत्वेनोपस्थितेष्वर्धभुक्तेषु मृत्युना ह्रियमाणस्य यः शोको

प्रकारकी है, तुष्टि नौ प्रकारकी और सिद्धि आठ प्रकारकी । ये ही पचास प्रत्ययभेद हैं । इनमें तमके आठ भेद हैं—अनात्मभूत आठ प्रकृतियोंमें[1] आत्मभाव होना यही भावोंके विषयभेदके अनुसार आठ प्रकारका तम है । मोहका आठ प्रकारका भेद है, अणिमादि आठ शक्तियाँ ही मोह हैं । महामोह दश प्रकारका है; दृष्ट (लौकिक) और श्रुत (पारलौकिक) शब्दादि पाँच-पाँच विषयोंमें जो सत्यत्वबुद्धि है वही महामोह है, दृष्ट और आनुश्रविक भेदसे वे दश प्रकारके हैं । तामिस्र अठारह प्रकारका है । आठ प्रकारके ऐश्वर्योंद्वारा दश प्रकारके दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंके लिये प्रयत्न करते हुए उनकी प्राप्ति न होनेपर जो क्रोध होता है वह तामिस्र कहलाता है । अन्धतामिस्र भी अठारह प्रकारका है । आठ प्रकारके ऐश्वर्य और दशों प्रकारके विषय भोग्यरूपसे उपस्थित रहनेपर उन्हें आधे भोगनेपर ही मृत्युके द्वारा उनसे छुड़ा दिये जानेपर जो ऐसा

१. सांख्यशास्त्रानुसार प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा—ये आठ प्रकृतियाँ हैं—इनमें भी प्रधान केवल प्रकृति है और महदादि सात प्रकृति-विकृति हैं । तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारको भगवान्‌की अष्टधा प्रकृति कहा है । किन्तु आगे ये प्रकृतियाँ प्रकृत्यष्टकमें ली हैं, इसलिये यहाँ पूर्वोक्त सांख्यसम्मत प्रकृतियाँ ही समझनी चाहिये ।

जायते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते मयोपभुक्ताः प्रत्यासन्नश्चायं मरणकाल इति सोऽन्धतामिस्र इत्युच्यते।

विपर्ययभेदा व्याख्याताः ।

अशक्तिरष्टाविंशतिधोच्यते—एकादशेन्द्रियाणामशक्तयो मूकत्वबधिरत्वान्धत्वप्रभृतयो बाह्याः। अन्तःकरणस्य पुरुषार्थयोग्यतातुष्टीनां विपर्ययेण नवधाशक्तिः । सिद्धीनां विपर्ययेणाष्टधाशक्तिः ।

तुष्टिर्नवधा—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याश्चतस्रः । विषयोपरमात्पञ्च । कश्चित्प्रकृतिपरिज्ञानात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते । अन्यः पुनः पारिव्राज्यलिङ्गं गृहीत्वा कृतार्थोऽस्मीति मन्यते । अपरः पुनः प्रकृतिपरिज्ञानेन किमाश्रमाद्युपादानेन वा किं बहुना कालेन अवश्यं मुक्तिर्भवतीति मत्वा परितुष्यति । कश्चित्पुनर्मन्यते विना

शोक होता है कि मैंने इन्हें बड़े क प्राप्त किया था, मैं इन्हें भोग भी पाया कि यह मरणकाल उपस्थित गया—इसे अन्धतामिस्र कहते

इस प्रकार विपर्ययके भेदों व्याख्या हो गयी । अशक्ति अट्ठ प्रकारकी कही जाती है । मूक बधिरत्व, अन्धत्वादि ग्यारह अशक्तियाँ तो इन्द्रियोंकी हैं, पुरु की योग्यतारूप तुष्टियोंसे विपरीत अशक्तियाँ अन्तःकरणकी हैं आठ अशक्तियाँ सिद्धियोंसे विपरीत

तुष्टि नौ प्रकारकी है— तो प्रकृति, उपादान, काल भाग्य नामवाली तथा पाँच विष उपरति हो जानेसे होती हैं। (कोई पुरुष प्रकृतिका ज्ञान हो ही यह मान लेता है कि मैं कृतार्थ गया । (२) कोई संन्यासके धारण करनेसे ही 'मैं कृतार्थ हो ऐसा अपनेको मानने लगता (३) कोई प्रकृतिका ज्ञान हो ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाता है अब संन्यासाश्रमादि ग्रहण क की क्या आवश्यकता है, बहुत बीतनेपर अब तो अवश्य मुक्ति ही जायगी । (४) कोई ऐसा म

भाग्येन न किञ्चिदपि प्राप्यते। यदि मम भाग्यमस्ति ततो भवत्येवात्रैव मोक्ष इति परितुष्यति। विषयाणामार्जनमशक्यमित्युपरम्य तुष्यति। शक्यते द्रष्टुमार्जितुमार्जितस्य रक्षणमशक्यमित्युपरम्य परितुष्यति। सातिशयत्वादिदोषदर्शनेनोपरम्य परस्तुष्यति। विषयाः सुतरामेवाभिलाषं जनयन्ति न च तद्भोगाभ्यासे तृप्तिरुपजायते।

"न जातु कामः कामाना-
मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्धते॥"
(श्रीमद्भा० ९।१९।१४)

इति। तस्मादलमनेन पुनः पुनरसन्तोषकारणेनोपभोगेनेत्येवंसङ्गदोषदर्शनादुपरम्य कश्चित्तुष्यति। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभ-

लगता है कि बिना भाग्यके कुछ भी नहीं मिलता, यदि मेरा भाग्य होगा तो मुझे अवश्य यहीं मोक्ष प्राप्त हो जायगा—ऐसा समझकर वह सन्तुष्ट हो जाता है। (५) कोई यह मानकर कि विषयोंका उपार्जन करना असम्भव है, उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (६) कोई यह सोचकर कि विषयोंका दर्शन और उपार्जन तो सम्भव है, परन्तु उपार्जित विषयोंकी रक्षा करना सम्भव नहीं है, उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (७) कोई विषयोंमें न्यूनाधिकतादि दोष देखनेसे उनसे उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (८) विषय तो तत्सम्बन्धी अभिलाषाको ही उत्पन्न करते हैं, उनके पुनः-पुनः भोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, "विषयोंकी इच्छा उनके भोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु घृतसे अग्निके समान वह और भी बढ़ जाती है।" अतः पुनः-पुनः असन्तोषके हेतुभूत इन विषयोंके भोगको छोड़ो—इस प्रकार विषयासक्तिमें दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (९) जीवोंकी हिंसा किये बिना भोग मिलना

वति । भूतोपघातभोगाच्चाधर्मः । अधर्मान्नरकादिप्राप्तिरिति हिंसादोषदर्शनात्कश्चिदुपरम्य तुष्यति । प्रकृत्युपादानकालभाग्याश्चतस्रः । विषयाणामार्जनरक्षणविषयदोषसङ्गहिंसादोषात्पञ्च तुष्टय इति नव तुष्टयो व्याख्याताः ।

सिद्धयोऽभिधीयन्ते—ऊहः शब्दोऽध्ययनमिति तिस्रः सिद्धयः । दुःखविघातास्तिस्रः । सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति सिद्धिद्वयम् । ऊहस्तत्त्वं जिज्ञासमानस्योपदेशमन्तरेण जन्मान्तरसंस्कारवशात्प्रकृत्यादिविषयं ज्ञानमुत्पद्यते सेयमूहो नाम प्रथमा सिद्धिः । शब्दो नामाभ्यासमन्तरेण श्रवणमात्राद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा द्वितीया सिद्धिः । अध्ययनं नाम शास्त्राभ्यासाद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा तृतीया सिद्धिः ।

सम्भव नहीं है और जीवहिंसापूर्वक भोग भोगनेसे अधर्म होगा तथा अधर्मसे नरकादिकी प्राप्ति होगी । इस प्रकार हिंसारूप दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है । इस प्रकार प्रकृति, उपादान, काल और भाग्यनामक चार एवं विषयोंके उपार्जन, रक्षण, विषयतारतम्यरूप दोष, संग और हिंसा—इन दोषोंके कारण होनेवाली पाँच—ऐसी इन नौ तुष्टियोंकी व्याख्या कर दी गयी ।

अब सिद्धियाँ बतलायी जाती हैं—तीन सिद्धियाँ तो ऊह, शब्द और अध्ययन नामकी हैं, तीन दुःखविघात नामवाली हैं और दो सुहृत्प्राप्ति एवं दान हैं । ऊह—तत्त्वजिज्ञासुको उपदेशके बिना ही जन्मान्तरके संस्कारसे जो प्रकृति आदिके विषयमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह ऊह नामकी पहली सिद्धि है । बिना अभ्यासके केवल श्रवणमात्रसे ही जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह शब्द नामकी दूसरी सिद्धि है । शास्त्रके अभ्याससे जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसे अध्ययन कहते हैं, यह तीसरी सिद्धि है ।

आध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्य त्रिविधदुःखस्य व्युदासाच्छीतोष्णादिजन्यदुःखसहिष्णोस्तितिक्षोर्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तस्य आध्यात्मिकादिभेदात्सिद्धेस्त्रैविध्यम् । सुहृदं प्राप्य या सिद्धिर्ज्ञानस्य सा सुहृत्प्राप्तिर्नाम सिद्धिः । आचार्यहितवस्तुप्रदानेन या सिद्धिर्विद्यायाः सा दानं नाम सिद्धिः । एवमष्टविधा सिद्धिर्व्याख्याता ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखोंकी उपेक्षा करनेसे शीतोष्णादिजनित दुःख सहन करनेवाले तितिक्षु पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह दुःखविघात नामकी सिद्धि है; आध्यात्मिकादि भेदके कारण इस सिद्धिके भी तीन प्रकार हैं । किसी सुहृद्‌के प्राप्त होनेपर जो ज्ञानकी सिद्धि होती है वह सुहृत्प्राप्ति नामकी सिद्धि है । आचार्यको उनकी प्रिय वस्तु दान करनेसे जो ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह दान नामकी सिद्धि है । इस प्रकार आठ प्रकारकी सिद्धियोंकी भी व्याख्या की गयी ।

एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्याः पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा व्याख्याताः । एवं ब्राह्मपुराणे कल्पोपनिषद्व्याख्यानप्रदेशे षष्टितमाध्याये पञ्चाशत् प्रत्ययभेदाः प्रतिपादिताः। अथवा "पञ्चाशच्छक्तिरूपिणः" इति परस्य याः शक्तयः पुराणे स्वरूपत्वेनाभिमताः पञ्चाशच्छक्तय अरा इव यस्य तं शतार्धारम् ।

इस तरह यह विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेदोंकी व्याख्या हुई । ब्राह्मपुराणमें कल्पोपनिषद्‌की व्याख्याके प्रसङ्गमें साठवें अध्यायमें पचास प्रत्ययभेदोंकी इसी प्रकार व्याख्या की गयी है । अथवा "पञ्चाशच्छक्तिरूपिणः" इस पुराणवाक्यमें परमात्माकी जिन शक्तियोंका उनके स्वरूपरूपसे वर्णन किया है वे ही जिसके अरोंके समान हैं उस शतार्धार (पचास अरोंवाले) को [कारणरूपसे देखा] ।

विंशतिप्रत्यराभिः । विंशतिप्रत्यरा दशेन्द्रियाणि तेषां च विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः । पूर्वोक्तानामराणां प्रत्यरा ये प्रतिविधीयन्ते कीलका अराणां दार्ढ्याय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते । तैः प्रत्यरैर्युक्तम् । अष्टकैः षड्भिर्युक्तमिति योजनीयम् ।

"भूमिरापोऽनलो वायुः
खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥"
(गीता ७ । ४)

इति प्रकृत्यष्टकम् । त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धात्वष्टकम् । अणिमाद्यैश्वर्याष्टकम् । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यभावाष्टकम् । ब्रह्मप्रजापतिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचा देवाष्टकम् । अष्टावात्मगुणा ज्ञेयाः, दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौच-

बीस प्रत्यरोंसे युक्त । दश इन्द्रि[य] और उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदा[न] (ग्रहण), गति, त्याग और आनन्[द] ——ये बीस प्रत्यर हैं । जो पूर्वो[क्त] अरोंके प्रति अरे——अरोंकी दृढ़ता[के] लिये जो शलाकाएँ लगायी जाती [हैं] वे प्रत्यर कहलाते हैं । उन प्रत्यरों[से] युक्त तथा छः अष्टकोंसे युक्त[को] [कारणरूपसे देखा]—ऐसी योजन[ा] करनी चाहिये । "पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बु[द्धि] और अहंकार—यह मेरी आठ भेदों[-] वाली प्रकृति है" यह गीतो[क्त] प्रकृत्यष्टक है; त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और शु[क्र] यह धात्वष्टक है; अणिमादि ऐश्वर्याष्ट[क] है; धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अध[र्म], अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—य[ह] भावाष्टक है; ब्रह्मा, प्रजापति, दे[व], गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण औ[र] पिशाच—यह देवाष्टक है, और आ[ठ] जिन्हें आत्माके गुण समझना चाहि[ये] वे समस्त प्राणियोंके प्रति दय[ा], क्षमा, अनसूया (निन्दा न करना)

१. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व औ[र] वशित्व—ये आठ ऐश्वर्य हैं ।

मनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति गुणाष्टकं षष्ठम्। एतैः षड्भिर्युक्तम्।

विश्वरूपैकपाशं स्वर्गपुत्रान्नाद्यादिविषयभेदाद्विश्वरूपं विश्वरूपो नानारूप एकः कामाख्यः पाशोऽस्येति विश्वरूपैकपाशम्। धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति त्रिमार्गभेदम्। द्वयोः पुण्यपापयोर्निमित्तैकमोहो देहेन्द्रियमनोबुद्धिजात्यादिष्वनात्मस्वात्माभिमानोऽस्येति द्विनिमित्तैकमोहम्। अपश्यन्निति क्रियापदमनुवर्तते। अधीम इत्युत्तरमन्त्रसिद्धं वा क्रियापदम्॥ ४॥

शौच, अनायास, मङ्गल, अकृपणता और अस्पृहा—ये छठा गुणाष्टक हैं; इन छः अष्टकोंसे युक्तको [कारणरूपसे देखा]।

विश्वरूप एक पाशवालेको—स्वर्ग, पुत्र एवं अन्नाद्य आदि विषयभेदसे कामनामक एक ही विश्वरूप—अनेक प्रकारका पाश है जिसका उस विश्वरूप एक पाशवालेको; धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप जिसके मार्गभेद हैं उस तीन मार्गभेदोंवालेको; तथा पाप-पुण्य—इन दोनोंका एक ही निमित्त मोह यानी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं जाति आदि अनात्माओंमें जिसका आत्माभिमान है ऐसे उस दोके [मोहरूप] एक ही निमित्तवालेको [उन्होंने कारणरूपसे देखा] इस प्रकार यहाँ पूर्वमन्त्रकी क्रिया 'अपश्यन्' की अनुवृत्ति होती है, अथवा अगले मन्त्रके क्रियापद 'अधीमः' (जानते हैं) का अध्याहार करना चाहिये॥ ४॥

कार्यब्रह्मका नदीरूपसे वर्णन

पूर्वं चक्ररूपेण दर्शितमिदानीं नदीरूपेण दर्शयति—

पहले जिसे चक्ररूपसे प्रदर्शित किया है उसीको अब श्रुति नदीरूपसे दिखलाती है—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पाँच स्रोत जिसमें जलकी धाराएँ हैं, पाँच उद्गमस्थानोंके कारण बड़ी उग्र और वक्र (टेढ़ी) है, जिसमें पञ्चप्राणरूप तरङ्गें हैं, पाँच प्रकारके ज्ञानोंका मूल जिसका कारण है, जिसमें पाँच आवर्त (भँवर) हैं, जो पाँच प्रकारके दुःखरूप ओघवेगवाली है और जो पाँच पर्वोंवाली है उस पचास भेदोंवाली [नदी] को हम जानते हैं ॥ ५ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुमिति । पञ्च स्रोतांसि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्यम्बुस्थानानि यस्यास्तां नदीं पञ्चस्रोतोऽम्बुम् । अधीम इति सर्वत्र संबध्यते । पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुग्रां वक्रां च पञ्चयोन्युग्रवक्राम् । पञ्च प्राणाः कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादयो वोर्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम् । पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादिजन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मनः । मनोवृत्तिरूपत्वात्सर्वज्ञानानां मनो मूलं कारणं यस्याः संसारसरितस्ताम् । तथा च

'पञ्चस्रोतोऽम्बुम्' इत्यादि । पाँच स्रोतरूप चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही जिसके जलस्थान हैं उस पाँच स्रोतरूप जलवाली नदीको [हम जानते हैं] । यहाँ 'अधीमः' (जानते हैं) क्रियापदका सबके साथ सम्बन्ध है । पाँच योनियों अर्थात् कारणभूत पाँच भूतोंसे जो उग्र और वक्र है उस पञ्चयोन्युग्रवक्राको, पाँच प्राण अर्थात् वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ जिसकी तरङ्गें हैं उस पञ्चप्राणोर्मिको पाँच बुद्धियों अर्थात् चक्षु आदिसे होनेवाले पाँच ज्ञानोंका आदि यानी कारण मन है, क्योंकि समस्त ज्ञान मनोवृत्तिरूप हैं; वह मन जिस संसाररूप नदीका मूल — कारण

मनसः सर्वहेतुत्वं दर्शयति—
"मनोविजृम्भितं सर्वं
यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे
द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥
इति । पञ्च शब्दादयो विषया आवर्तस्थानीयास्तेषु विषयेषु प्राणिनो निमज्जन्तीति यस्यास्तां पञ्चावर्ताम् । पञ्च गर्भदुःखजन्मदुःखजरादुःखव्याधिदुःखमरणदुःखान्येवौघवेगो यस्यास्तां पञ्चदुःखौघवेगाम् । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशभेदाः पञ्च पर्वाण्यस्यास्तां पञ्चपर्वामिति ॥ ५ ॥

उसको । तथा मन ही सबका हेतु है—यह इस वाक्यसे दिखाते हैं—"जितना कुछ स्थावर-जंगम है वह सब मनका ही विलास है । मनके मननशून्य होनेपर द्वैतकी उपलब्धि ही नहीं होती ।" शब्दादि पाँच विषय आवर्तरूप हैं, उन विषयोंमें प्राणी डूब जाते हैं, इसलिये वे जिसके आवर्त हैं उस पाँच आवर्तवालीको, गर्भदुःख, जन्मदुःख, जरादुःख, व्याधिदुःख और मरणदुःख—ये पाँच जिसके ओघवेग (जलराशिके प्रवाह) हैं उस पाँच दुःखरूप ओघवेगवालीको; तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश ही जिसके पाँच पर्व हैं उस पाँच पर्वोंवाली संसारनदीको [हम जानते हैं] ॥ ५ ॥

जीवके संसार-बन्धन और मोक्षके कारणका निर्देश

एवं तावन्नदीरूपेण ब्रह्मचक्ररूपेण च कार्यकारणात्मकं ब्रह्म सप्रपञ्चमिहाभिहितम् । इदानीमस्मिन्कार्यकारणात्मकब्रह्मचक्रे केन वा संसरति केन

इस प्रकार यहाँतक दो नदीरूपसे और ब्रह्मचक्ररूपसे प्रपञ्चसहित कार्य-कारणरूप ब्रह्मका वर्णन किया गया । अब, इस कार्यकारणात्मक ब्रह्मचक्रमें किस हेतुसे जीवको संसारकी प्राप्ति होती है और

वा मुच्यत इति संसारमोक्षहेतुप्रदर्शनायाह—

किस साधनसे वह मुक्त होता है इस प्रकार संसार और मोक्षका हेतु दिखलानेके लिये श्रुति कहती है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

जीव अपनेको और सर्वनियन्ता परमात्माको अलग-अलग मानकर इस समस्त भूतोंके जीवननिर्वाहक (भोगभूमि) और सबके आश्रयभूत (प्रलयस्थान) महान् ब्रह्मचक्रमें भ्रमता रहता है; और जब उससे अभिन्नरूपसे सेवित होता है तब अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

सर्वाजीव इति । सर्वेषामाजीवनमस्मिन्निति सर्वाजीवे । सर्वेषां संस्था समाप्तिः प्रलयो यस्मिन्निति सर्वसंस्थे । बृहन्तेऽस्मिन्हंसो जीवः । हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः । भ्राम्यतेऽनात्मभूतदेहादिमात्मानं मन्यमानः सुरनरतिर्यगादिभेदभिन्ननानायोनिषु । एवं भ्राम्यमाणः परिवर्तत इत्यर्थः ।

'सर्वाजीवे' इत्यादि । जिसमें समस्त भूतोंका जीवन है उस सर्वाजीव तथा जिसमें सबकी संस्था—समाप्ति यानी प्रलय होती है उस सर्वसंस्थ बृहन्त (महान्) ब्रह्मचक्रमें हंस जीव, संसारमार्गमें हनन—गमन करता है इसलिये जीव हंस कहा जाता है, भ्रमता रहता है अर्थात् अनात्मभूत देहादिको आत्मा मानता हुआ देवता, मनुष्य एवं तिर्यगादि भेदोंवाली अनेकों योनियोंमें भ्रमण करता है । इसी प्रकार भ्रमण करता हुआ सब ओर भटकता रहता है— ऐसा इसका तात्पर्य है ।

केन हेतुना नानायोनिषु परिवर्तते ? इति तत्राह—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वेति । आत्मानं जीवात्मानं प्रेरितारं चेश्वरं पृथग्भेदेन मत्वा ज्ञात्वा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' इति जीवेश्वरभेददर्शनेन संसारे परिवर्तत इत्यर्थः ।

किस कारणसे अनेकों योनियोंमें घूमता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इति । आत्मा अर्थात् जीवात्मा और प्रेरक—ईश्वरको पृथक्—विभिन्नरूपसे मानकर; तात्पर्य यह है कि 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार जीव और ईश्वरका भेद देखनेसे वह संसारमें घूमता है ।

केन मुच्यते ? इत्याह— जुष्टः सेवितस्तेनेश्वरेण चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाहं ब्रह्मास्मीति समाधानं कृत्वेत्यर्थः । तेनेश्वरसेवनादमृतत्वमेति । यस्तु पूर्णानन्दब्रह्मरूपेणात्मानमवगच्छति स मुच्यते । यस्तु परमात्मनोऽन्यमात्मानं जानाति स बध्यत इति । तथा च बृहदारण्यके भेददर्शनस्य संसारहेतुत्वं प्रदर्शितम्—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते । आत्मा-

किस उपायसे वह मुक्त होता है, सो बतलाते हैं—उस ईश्वरसे जुष्ट—सेवित होनेपर अर्थात् सच्चिदानन्दमय ब्रह्मसे अभिन्न ब्रह्मस्वरूपसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा समाधान (समाधि) करनेपर । इस समाधिद्वारा ईश्वरका सेवन करनेसे वह मुक्त हो जाता है । जो कोई भी अपनेको पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूपसे अनुभव करता है वही मुक्त होता है और जो अपनेको परमात्मासे भिन्न जानता है वह बँधता है । इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी भेददृष्टिको संसारका हेतु दिखलाया है—"जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह सर्वरूप हो जाता है; देवगण भी उसके सर्वात्मक ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेको समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका

ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् (बृह० उ० १ । ४ । १०) इति ।

तथा च श्रीविष्णुधर्मे—

"पश्यत्यात्मानमन्यं तु
यावद्वै परमात्मनः ।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु-
र्मोहितो निजकर्मणा ॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु
परं ब्रह्म प्रपश्यति ।
अभेदेनात्मनः शुद्धं
शुद्धत्वादक्षयो भवेत् ॥६॥

आत्मा ही हो जाता है । किन्तु जो किसी अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' ऐसे भावसे उपासना करता है वह नहीं जानता [अर्थात् वह अज्ञानी है] वह पशुओंके समान देवताओंका पशु है ।

ऐसा ही विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें भी कहा है—"जीव जबतक अपने को परमात्मासे भिन्न देखता है तबतक वह अपने कर्मोंद्वारा मोहित करके भटकाया जाता है । किन्तु जब उसके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं तो उसे शुद्ध परब्रह्मका अपनेसे अभेदरूपसे साक्षात्कार होता है और शुद्धस्वरूप हो जानेके कारण वह अमर हो जाता है" ॥६

परब्रह्मकी प्राप्तिसे मुक्तिका वर्णन

ननु तमेकनेमिमित्यादिना सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रतिपादितम् । तथा च सत्यहं ब्रह्मासीति ब्रह्मात्मप्रतिपत्तावपि सप्रपञ्चस्यैव ब्रह्मण आत्मत्वेनावगमात् "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति सप्रपञ्चब्रह्मप्राप्तिरेव स्यात् । ततश्च

'तमेकनेमिम्' इत्यादि वाक्य प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मका प्रतिपादन कि गया है; ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्मात्मभावकी प्रा होनेपर भी प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मको आत्मस्वरूपसे जाना जाय इससे "उसकी जो जिस प्र उपासना करता है वैसा ही हो जा है" इस सिद्धान्तके अनुसार सप्र ब्रह्मकी ही प्राप्ति होगी । और

प्रपञ्चस्यापरित्यागान्न मोक्षसिद्धिः। ततश्च जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीतिमोक्षोपदेशोऽनुपपन्न एवेत्याशङ्क्याह—

प्रपञ्चका त्याग न होनेसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये 'उससे अभिन्नरूपसे सेवित होनेपर अमरत्व प्राप्त करता है' इस प्रकार जो मोक्षका उपदेश किया है वह अनुपयुक्त ही है—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

प्रपञ्चसे पृथक्‌रूपसे वर्णन किया गया यह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट ही है। उसमें [भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—ये] तीनों स्थित हैं। वह इनकी सुप्रतिष्ठा और अविनाशी है। इसमें प्रवेशद्वार पाकर ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्ममें लीन हो समाधिनिष्ठामें स्थित हुए जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

उद्गीतमिति। सप्रपञ्चं ब्रह्म यदि स्यात्ततो भवत्येव मोक्षाभावः। न त्वेतदस्ति। कस्मात्? यत उद्गीतमुद्धृत्य गीतमुपदिष्टं कार्यकारणलक्षणात्प्रपञ्चाद्वेदान्तैः। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि (के० उ० १।३)।

'उद्गीतम्' इत्यादि। यदि ब्रह्म प्रपञ्चयुक्त होता तब तो [उसकी प्राप्तिमें] मोक्षका अभाव हो सकता था। किन्तु ऐसी बात है नहीं। कैसे नहीं है? क्योंकि वेदान्तोंने इसका कार्य-कारणरूप प्रपञ्चसे अलग करके गान यानी उपदेश किया है। तात्पर्य यह है कि "वह विदितसे भिन्न है और अविदितसे

"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"(के० उ० १ । ४)। "अस्थूलम्"(बृ० उ० ३ । ८ । ८) "अशब्दमस्पर्शम्"(क० उ० १ । ३ । १५)। "स एष नेति नेतीति ।" "ततो यदुत्तरतरम्" (श्वेता०उ० ३ । १०)। "अन्यत्र धर्मात्"(क०उ० १।२। १४)। "न सन्न चासच्छिव एव केवलः" (श्वेता० उ० ४।१८)। "तमसः परः ।" "यतो वाचो निवर्तन्ते ।" (तै०उ० २ । ४ । १) "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० उ० ७ । २४ । १)। "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं भयं जरामत्येति"(बृ० उ० ३ । ५ । १) ॥ "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २ । १ । २)। "एकमेवाद्वितीयम् ।" (छा० उ० ६ । २ । १)"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"(छा० उ० ६ । १ । ४)। "नेह नानास्ति किञ्चन"(बृ० उ० ४ । ४ । १९)। "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४।४।२०)। इत्येवमादिषु प्रपञ्चास्पृष्टमेव ब्रह्मावगम्यत इत्यर्थः ।

यत एवं प्रपञ्चधर्मरहितं ब्रह्मात एव परमं तु ब्रह्म ।

भी परे है", "तू उसीको ब्रह्म जान, जिसकी लोक इदंभावसे उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है", "वह स्थूल नहीं है", "शब्दरहित है और स्पर्शरहित है", "वह ब्रह्म यह (कारण) नहीं है, यह (कार्य) नहीं है", "जो उससे भी आगे है", "वह धर्मसे परे है" "न सत् है न असत्, वह शुद्धस्वभाव एवं अविद्याजनित विकल्पसे शून्य है", "वह अज्ञानसे परे है", "जहाँसे वाणी लौट आती है", "जहाँ न अन्य कुछ देखता है, न अन्य कुछ जानता है वह भूमा है", "जो भूख-प्यास तथा शोक, मोह, भय और वृद्धावस्थासे परे है", "जो प्राण और मनसे रहित, शुद्धस्वरूप और पर अव्याकृतसे भी परे है", "ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है" "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है", "यहाँ नाना कुछ नहीं है" तथा "उसे एकरूप ही देखना चाहिये" इत्यादि मन्त्रोंमें ब्रह्म प्रपञ्चसे असङ्ग ही जाना जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

क्योंकि इस प्रकार ब्रह्म प्रपञ्चके धर्मोंसे रहित है, इसलिये वह

तुशब्दोऽवधारणे । परममेवोत्कृष्टमेव । संसारधर्मानास्कन्दितत्वात् । उद्गीतत्वेन ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात् । "तं यथा यथोपासते" इति न्यायेनोत्कृष्टब्रह्मोपासनादुत्कृष्टमेव फलं मोक्षाख्यं भवत्येवेत्यभिप्रायः ।

सर्वोत्कृष्ट ही है। मूलमें 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । परमेव अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ही है, क्योंकि वह समस्त सांसारिक धर्मोंसे अनाक्रान्त है । उद्गीतरूप होनेसे ब्रह्म उत्कृष्ट है । "उसे जो जिस प्रकार उपासना करता है" इस न्यायसे उत्कृष्ट ब्रह्मकी उपासना करनेसे मोक्षरूप उत्कृष्ट फल ही होता है ऐसा अभिप्राय है ।

प्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्यम् आशङ्क्य तन्निरसनम्

नन्वेवं तर्हि ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसृष्टत्वे प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मासंसर्गात्सांख्यवाद इव प्रपञ्चस्यापि पृथक्सिद्धत्वेन स्वतन्त्रत्वाद् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६।१।४) इति पारतन्त्र्याभ्युपगमेन मिथ्यात्वोपदेशपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनोपदेशोऽनुपपन्नश्चेत्याशङ्क्याह—

ऐसा होनेपर तो यदि ब्रह्म प्रपञ्चसे असङ्ग है और ब्रह्मका भी प्रपञ्चसे कोई संसर्ग नहीं है तो सांख्यवादके समान प्रपञ्च भी पृथक् सिद्ध होनेके कारण स्वतन्त्र होनेसे "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इस वाक्यके अनुसार प्रपञ्चकी परतन्त्रता स्वीकार कर उसका मिथ्यात्व बतलाते हुए अद्वितीय ब्रह्मरूपसे उपदेश करना अनुचित ही होगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

तस्मिंस्त्रयमिति । यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चासंसृष्टं स्वतन्त्रं च तथापि प्रपञ्चो न स्वतन्त्रः । अपि तु तस्मिन्नेव ब्रह्मणि त्रयं प्रतिष्ठितं भोक्ता भोग्यं प्रेरितारमिति

'तस्मिंस्त्रयम्' इत्यादि । यद्यपि ब्रह्मका प्रपञ्चसे संसर्ग नहीं है और वह स्वतन्त्र है तथापि प्रपञ्च स्वतन्त्र नहीं है; अपि तु भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता—ऐसा कहकर जिनका आगे वर्णन

वक्ष्यमाणं भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणम् । "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इतिवक्ष्यमाणं भोक्तृभोग्यार्थरूपं चान्यद्वेदं श्रुतिसिद्धं विराट्सूत्राभ्यां कृतं नामरूपकर्मविश्वतैजसप्राज्ञ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपस्वरूपं प्रतिष्ठितं रज्ज्वामिव सर्पः । यत एतस्मिन्सर्वं भोक्त्रादिलक्षणं प्रपञ्चरूपं प्रतिष्ठितम्, अत एवास्य भोक्त्रादित्रयात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म सुप्रतिष्ठा शोभनप्रतिष्ठा । ब्रह्मणोऽन्यस्य चलनात्मकत्वाच्चलप्रतिष्ठान्यत्र । ब्रह्मणोऽचलत्वादत्राचलप्रतिष्ठा ।

ब्रह्मणः प्रपञ्चाश्रयत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थनम्

नन्वेवं तर्हि विकारभूतप्रपञ्चाश्रयत्वेन परिणामित्वाद्दध्यादिवदनित्यं स्यादित्याशङ्क्याह—अक्षरं चेति । यद्यपि विकारः प्रपञ्चाश्रयस्तथाप्यक्षरं न क्षरतीत्यक्षरम् ।

किया है वे भोक्ता, भोग्य और नियन्ता तीनों उस ब्रह्ममें ही स्थित हैं। अथवा "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इस वाक्यसे कहे जानेवाले भोक्ता, भोग्य और भोग, किंवा श्रुति-प्रतिपादित विराट् और हिरण्यगर्भद्वारा रचे हुए नाम, रूप और कर्म अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ या जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये तीनों उसमें रज्जुमें सर्पके समान प्रतिष्ठित हैं । क्योंकि इसमें भोक्तादिरूप सारा प्रपञ्च प्रतिष्ठित है, इसीसे ब्रह्म इस भोक्तादि त्रयरूप प्रपञ्चकी सुप्रतिष्ठा अर्थात् उत्तम आश्रयस्थान है । ब्रह्मसे भिन्न और सब चलायमान (अस्थायी) है; इसलिये अन्य सब चलप्रतिष्ठा है। ब्रह्म अचल है, इसलिये इसमें उनकी अचल प्रतिष्ठा है ।

यदि ऐसा है तब तो विकारभूत प्रपञ्चका आश्रय होनेसे परिणामी होनेके कारण दधि आदिके समान ब्रह्म भी अनित्य सिद्ध होगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—'अक्षरं च ।' यद्यपि प्रपञ्चका आश्रय होना विकार है तथापि वह अक्षर है जो स्वरूपसे च्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं

चशब्दोऽवधारणे अविनाश्येव ब्रह्म, मायात्मकत्वाद्विकारस्य। विकाराश्रयत्वेऽप्यविनाश्येव कूटस्थं ब्रह्मावतिष्ठत इत्यभिप्रायः। मायात्मकत्वं च प्रपञ्चस्य पूर्वमेव प्रपञ्चितम्। तस्मात्सर्वात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्मकत्वेन ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसर्गात्पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षाख्यः परमपुरुषार्थो भवतीत्यर्थः।

यहाँ 'च' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् ब्रह्म अविनाशी ही है, क्योंकि विकार मायिक है। अभिप्राय यह है कि विकारका आश्रय होनेपर भी कूटस्थ ब्रह्म अविनाशी ही रहता है। प्रपञ्चका मायामय होना तो पहले ही विस्तारसे बतला दिया गया है। अतः तात्पर्य यह है कि ब्रह्म यद्यपि सर्वरूप है तथापि प्रपञ्च मिथ्या होनेसे ब्रह्मसे प्रपञ्चका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मात्मभावका दर्शन करनेवाले पुरुषको मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है।

पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिप्रकारः

कथं तस्यात्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिरित्यत आह—अत्रास्मिन्नन्नमयाद्यानन्दमयान्ते देहे विराडाद्यव्याकृतान्ते वा प्रपञ्चे पूर्वपूर्वोपाधिप्रविलयेनोत्तरोत्तरमप्यशनायाद्यसंस्पृष्टं वाचामगोचरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युपसंहारमुखेन लयं गता अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मरूपेणैव स्थिता

अब श्रुति यह बतलाती है कि उस आत्मदर्शीको किस प्रकार मोक्षकी प्राप्ति होती है? यहाँ—अन्नमय कोशसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त इस देहमें अथवा विराट्से लेकर अव्याकृतपर्यन्त प्रपञ्चमें पूर्व-पूर्व उपाधिका लय करते हुए उत्तरोत्तर क्षुधादिके संसर्गसे शून्य वाणीके अविषयभूत ब्रह्मको जानकर ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्ममें लीन हो—विश्वादिका उपसंहार करते हुए ब्रह्ममें ही लयको प्राप्त हो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मरूपसे ही स्थित हो

इत्यर्थः । तत्पराः समाधिपराः किं कुर्वन्ति योनिमुक्ता भवन्ति गर्भजन्मजरामरणसंसारभयान्मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ।

जाते हैं । और तत्पर अर्थात् समाधिपरायण होकर क्या करते हैं ?—योनिमुक्त हो जाते हैं; अर्थात् गर्भवास, जन्म, जरा और मरणरूप संसारके भयसे मुक्त हो जाते हैं ।

उक्तार्थे स्मृतिप्रमाणदर्शनम्

तथा च योगियाज्ञवल्क्यो ब्रह्मात्मनैवावस्थितं समाधिं दर्शयति—

"यदर्थमिदमद्वैतं
भारूपं सर्वकारणम् ।
आनन्दममृतं नित्यं
सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
तदेवानन्यधीः प्राप्य
परमात्मानमात्मना ।
तस्मिन्प्रलीयते त्वात्मा
समाधिः स उदाहृतः ॥
इन्द्रियाणि वशीकृत्य
यमादिगुणसंयुतः ।
आत्ममध्ये मनः कुर्या-
दात्मानं परमात्मनि ॥
परमात्मा स्वयं भूत्वा
न किञ्चिच्चिन्तयेत्ततः ।
तदा तु लीयते त्वात्मा
प्रत्यगात्मन्यखण्डिते ॥
प्रत्यगात्मा स एव स्या-
दित्युक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥"
इति ॥७॥

इसी प्रकार योगी याज्ञवल्क्य भी ब्रह्मात्मभावसे स्थित होनेको ही समाधिरूपसे प्रदर्शित करते हैं—"यह जो सबका कारणरूप अद्वैत-तत्त्व है प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय अमृत, नित्य और समस्त भूतोंमें ओतप्रोत है । अनन्यचित्त पुरुष उस परमात्माको ही आत्मस्वरूपसे प्राप्त-कर उसीमें लीन हो जाता है । वही समाधि कहलाती है । इन्द्रियोंको अपने वशमें कर यमादि गुणोंसे सम्पन्न हो मनको आत्मामें लगावे और आत्माको परमात्मामें । फिर स्वयं परमात्मभावसे स्थित हो कुछ भी चिन्तन न करे । तब यह चित्त अखण्ड प्रत्यगात्मामें लीन हो जाता है । वही प्रत्यगात्मा है—ऐसा ब्रह्मवादियोंने कहा है" ॥ ७ ॥

व्यावहारिक भेद और ज्ञानद्वारा मोक्षका प्रदर्शन

नन्वद्वितीये परमात्मन्यभ्युपगम्यमाने जीवेश्वरयोरपि विभागाभावाल्लीना ब्रह्मणीति जीवानां ब्रह्मैकत्वपरा लयश्रुतिरनुपपन्नैवेत्याशङ्क्य व्यवहारावस्थायां जीवेश्वरयोरुपाधितो विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—

किन्तु परमात्माको अद्वितीय माननेपर तो जीव और ईश्वरका भी विभाग न रहनेसे 'लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः' यह जीवोंका ब्रह्ममें लय बतलानेवाली श्रुति असंगत ही होगी—ऐसी आशङ्का करके व्यवहारावस्थामें उपाधिवश जीव और ईश्वरका विभाग दिखलाकर श्रुति परमात्माके विज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति प्रदर्शित करती है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर अथवा व्यक्ताव्यक्तरूप विश्वका परमात्मा पोषण करता है । मायाधीन जीव भोक्तृभावके कारण उसमें बँधता है और परमात्माका ज्ञान होनेपर समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

संयुक्तमेतदिति । व्यक्तं विकारजातमव्यक्तं कारणं तदुभयं क्षरमक्षरं च व्यक्तं क्षरं विनाश्यव्यक्तमक्षरमविनाशि तदुभयं परस्परसंयुक्तं कार्यकारणात्मकं विश्वं भरते बिभर्तीश ईश्वरः ।

'संयुक्तमेतत्' इत्यादि । व्यक्त-विकारसमूह और अव्यक्त कारण ये ही दोनों क्षर और अक्षर हैं । व्यक्त—क्षर यानी विनाशी है और अव्यक्त—अक्षर यानी अविनाशी है । परस्पर मिले हुए कार्य-कारणात्मक विश्वरूप इन दोनोंका परमात्मा पोषण करता है ।

तथा चाह भगवान्—

"क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।"
(गीता १५ । १६, १७)

इति ।

ऐसा ही भगवान्‌ने भी कहा है—"सम्पूर्ण भूत (प्राकृत विकार) क्षर हैं और कूटस्थ प्रकृति (भगवान्‌की मायाशक्ति) अक्षर कही जाती है । इन दोनोंसे अत्यन्त उत्कृष्ट पुरुष [अर्थात् पुरुषोत्तम] तो अन्य ही है, जो परमात्मा कहा गया है; तथा जो अविनाशी ईश्वर तीन लोकोंमें व्याप्त होकर उनको धारण करता है ।" इत्यादि ।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं भरतेऽनीशश्चानीश्वरश्च स आत्मा-विद्यातत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभि-र्बध्यते भोक्तृभावात् । एतदुक्तं भवति—परस्परसंयुक्तो व्यष्टि-समष्टिरूप ईश्वरः । तद्व्यष्टिभूत-देहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः । एवं समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वेन जीव-परयोरौपाधिकस्य भेदस्य विद्य-मानत्वात्तदुपाध्युपासनद्वारेण नि-रुपाधिकमीश्वरं ज्ञात्वा मुच्यत इति भोक्त्रात्मैक्यवादे नानुपपन्नं किञ्चिद्विद्यत इति ।

परमात्मा केवल व्यक्ताव्यक्तरूप विश्वका भरण ही नहीं करता, अपितु जीव अनीश—अस्वतन्त्र भी है और वह भोक्तृत्वके कारण अविद्या और उसके कार्यभूत देह एवं इन्द्रियादिसे बँध जाता है । यहाँ कहना यह है कि ईश्वर परस्पर मिले हुए समष्टि-व्यष्टिरूप है । उनमें व्यष्टि देह एवं इन्द्रियोंवाला मायाधीन जीव है । इस प्रकार समष्टि-व्यष्टिरूपसे जीव और परमात्माका औपाधिक भेद विद्यमान रहनेसे उस उपाधिजनित उपासनाके द्वारा निरुपाधिक ईश्वरका ज्ञान होने-पर जीव मुक्त हो जाता है । अतः भोक्ता जीव और परमात्माका एकत्व माननेवाले सिद्धान्तमें असंगत कुछ भी नहीं है ।

भेदस्यौपाधिकत्वम्

तथा चौपाधिकमेव भेदं दर्शयति भगवान् याज्ञवल्क्यः—

"आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मैको ह्यनेकश्च
जलाधारेष्विवांशुमान् ॥"
(याज्ञ० ३ । १४४)

तथा च श्रीविष्णुधर्मे—

"परात्मनोर्मनुष्येन्द्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः ।
क्षये तस्यात्मपरयो-
र्विभागाभाव एव हि ॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं
संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव विगतः शुद्धः
परमात्मा निगद्यते ॥
अनादिसंबन्धवत्या
क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।
युक्तः पश्यति भेदेन
ब्रह्म त्वात्मनि संस्थितम् ॥"

तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

"विभेदजनकेऽज्ञाने
नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेद-
मसन्तं कः करिष्यति ॥"
(६ । ७ । ९६)

इसी प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य भी इनका औपाधिक भेद ही दिखलाते हैं—"जिस प्रकार घटादिमें एक ही आकाश भिन्न-भिन्न हो जाता है उसी प्रकार एक ही आत्मा जलाशयोंमें सूर्यके समान भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है ।"

श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें भी ऐसा ही कहा है—"राजन् ! परमात्मा और जीवात्माका भेद अज्ञानकल्पित है; अज्ञानका नाश हो जानेपर आत्मा और परमात्माके भेदका अभाव ही सिद्ध होता है । यह क्षेत्रज्ञसंज्ञक जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंसे युक्त है और उन्हींसे रहित होनेपर यह शुद्ध-स्वरूप परमात्मा कहा जाता है । यह क्षेत्रज्ञ अपनेसे अनादिकालसे सम्बन्ध रखनेवाली अविद्यासे युक्त होनेसे ही अपनेमें स्थित ब्रह्मको भेदभावसे देखता है ।"

तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा है—"जीव और ब्रह्मका भेद उत्पन्न करनेवाले अज्ञानका आत्यन्तिक नाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मका मिथ्या भेद कौन करेगा ?"

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे प्रश्नपूर्वकं दर्शितम्—

"यद्यात्मा निर्गुणः शुद्धः
सदानन्दोऽजरोऽमरः ।
संसृतिः कस्य तात स्या-
न्मोक्षो वा विद्यया विभो ॥
क्षेत्रनाशः कथं तस्य
ज्ञायते भगवन्यतः ।
यथावत्सर्वमेतन्मे
वक्तुमर्हसि साम्प्रतम् ॥"

वसिष्ठः—

"तस्यैव नित्यशुद्धस्य
सदानन्दमयात्मनः ।
अवच्छिन्नस्य जीवस्य
संसृतिः कीर्त्यते बुधैः ॥
एक एव हि भूतात्मा
भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
भ्रान्त्यारूढः स एवात्मा
जीवसंज्ञः सदा भवेत् ॥"

परस्यैवौपाधिक-जीवादिभेदो बन्धमुक्तादि-व्यवस्था च

तथा च ब्राह्मे पुराणे परस्यैवौपाधिकं जीवादिभेदं दर्शयति— कथं तर्ह्यौपाधिकभेदेन बन्धमुक्त्यादिव्यवस्था ?

वासिष्ठ योगशास्त्रमें भी [रामचन्द्रजीके] प्रश्नपूर्वक यही बात दिखायी है । [राम—] "यदि आत्मा निर्गुण, शुद्ध, नित्यानन्दस्वरूप, जराशून्य और अमर है तो हे विभो ! यह संसार किसे प्राप्त होता है ? अथवा ज्ञानसे किसका मोक्ष होगा ? और हे भगवन् ! [ज्ञानीके महाप्रयाणके समय] उसका लिङ्गभङ्ग होता कैसे जाना जाता है ? इस समय ये सब बातें आप मुझे यथार्थ रीतिसे बतला दीजिये ।"

वसिष्ठ—"मनीषिगण उस नित्यशुद्ध, नित्यानन्दमय आत्माको ही देहावच्छिन्न जीवभावकी प्राप्ति होनेपर संसारकी प्राप्ति बतलाते हैं । प्रत्येक जीवमें एक ही भूतात्मा (सत्य आत्मा—परब्रह्म) स्थित है । वही जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान एक और अनेक रूपसे देखा जाता है । अविद्याधीन होनेपर वही परमात्मा सर्वदा जीवसंज्ञावाला हो जाता है ।"

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी परमात्माके ही औपाधिक जीवादि भेद दिखलाते हैं । वहाँ यह शङ्का करके कि ऐसी अवस्थामें औपाधिक भेदसे ही बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ? उनकी

इत्याशङ्क्य दृष्टान्तपूर्वकं व्यवस्थां दर्शयति—

"एकस्तु सूर्यो बहुधा
जलाधारेषु दृश्यते ।
आभाति परमात्मा च
सर्वोपाधिषु संस्थितः ॥
ब्रह्म सर्वशरीरेषु
बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम् ।
आकाशमिव भूतेषु
बुद्धावात्मा न चान्यथा ॥
एवं सति यथा बुद्ध्या
देहोऽहमिति मन्यते ।
अनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या
सा स्यात्संसारबन्धिनी ॥
सर्वैर्विकल्पैर्हीनस्तु
शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः ।
प्रशान्तो व्योमवद्व्यापी
चैतन्यात्मासकृत्प्रभः ॥
धूमाभ्रधूलिभिर्व्योम
यथा न मलिनायते ।
प्राकृतैरपरामृष्टो
विकारैः पुरुषस्तथा ॥
यथैकस्मिन्घटाकाशे
जलैर्धूमादिभिर्युते ।
नान्ये मलिनतां यान्ति
दूरस्थाः कुत्रचित्क्वचित् ॥

दृष्टान्तपूर्वक व्यवस्था दिखलाते हैं—

"जिस प्रकार एक ही सूर्य विभिन्न जलाधारोंमें अनेकरूप दिखायी देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें स्थित परमात्मा भी अनेकवत् भासता है। वह परब्रह्म समस्त शरीरोंके बाहर और भीतर भी स्थित है। जिस प्रकार आकाश पञ्चभूतोंमें ओतप्रोत है उसी प्रकार समस्त बुद्धियोंमें एक ही आत्मा अनुस्यूत है, और किसी प्रकार नहीं। ऐसी स्थितिमें अनात्मामें आत्मत्वकी भ्रान्ति हो जानेसे वैसी बुद्धिके द्वारा वह जीव जो ऐसा मानने लगता है कि 'मैं देह हूँ' यह मति ही उसे संसारमें बाँधनेवाली है। किन्तु इन समस्त विकल्पोंसे रहित वह शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, अत्यन्त शान्त, आकाशके समान व्यापक, चैतन्यस्वरूप और नित्यज्योतिःस्वरूप है। जिस प्रकार धूम, मेघ और धूलि आदिसे आकाश मलिन नहीं होता उसी प्रकार पुरुष प्रकृतिके विकारोंसे असंग है। जिस प्रकार एक घटाकाशके जल या धूमादिसे युक्त होनेपर उससे दूर रहनेवाले अन्य सब घटाकाश कभी किसी भी

तथा द्वन्द्वैरनेकैस्तु
जीवे च मलिनीकृते ।
एकस्मिन्नापरे जीवा
मलिनाः सन्ति कुत्रचित् ॥"

तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः—

"यथैकस्मिन्घटाकाशे
रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते
तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥"
(माण्डू०का०३ । ५) इति ।

जीवगतदुःख-
सुखादेरीश्वरे-
ऽप्राप्तिः

तस्मादद्वितीये परमात्मन्युपाधितो जीवेश्वरयोर्जीवानां च भेदव्यवस्थायाः सिद्धत्वान्न विशुद्धसत्त्वोपाधेरीश्वरस्याविशुद्धोपाधिजीवगताः सुखदुःखमोहाज्ञानादयः । तथा च भगवान्पराशरः—

"ज्ञानात्मकस्यामलसत्त्वराशे-
रपेतदोषस्य सदा स्फुटस्य ।
किं वा जगत्यस्ति समस्तपुंसा-
मज्ञातमस्यास्ति हृदि स्थितस्य ॥"
(विष्णुपु० ५ । १७ । ३२) इति ।

नापि जीवान्तरगतसुखदुःख-

स्थानमें मलिन नहीं होते उसी प्रकार एक जीवके अनेकों द्वन्द्वोंसे अभिभूत होनेपर भी अन्य जीव कहीं भी मलिन नहीं हो सकते ।"

इसी तरह शुकदेवजीके शिष्य श्रीगौडपादाचार्य कहते हैं—"जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धूमादिसे युक्त होनेपर अन्य सब घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते, उसी तरह [एक जीवके] सुखादिसे सब जीव भी युक्त नहीं होते ।"

अतः अद्वितीय परमात्मामें उपाधिसे ही जीव, ईश्वर और जीवोंके पारस्परिक भेदकी व्यवस्था सिद्ध होनेसे विशुद्ध सत्त्वमयी उपाधिवाले ईश्वरको अशुद्ध उपाधिवाले जीवके सुख, दुःख, मोह एवं ज्ञानादि प्राप्त नहीं हो सकते । ऐसा ही भगवान् पराशरजी कहते हैं—"समस्त जीवोंके अन्तःकरणोंमें स्थित ज्ञानस्वरूप, विशुद्ध सत्त्वराशि, सर्वदोषनिर्मुक्त और नित्य प्रकाशस्वरूप परमात्माको संसारमें कौन वस्तु अज्ञात है ?"

इसके सिवा किसी बद्ध या मुक्त जीवान्तरका किसी अन्य जीवके

जीवस्य जीवान्तर-सुखदुःखादिना सम्पर्काभावः

मोहादिना जीवान्तरस्य बद्धस्य मुक्तस्य वा संबन्धः, उपाधितो व्यवस्थायाः संभवात्। अत एकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति भवदुक्तस्य चोद्यस्यानवकाशः ॥ ८ ॥

सुख, दुःख या मोहादिसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उपाधिके कारण ऐसी व्यवस्था होनी सम्भव है। अतः आपकी इस शङ्काके लिये कि 'एककी मुक्ति होनेपर सभी जीवोंकी मुक्ति हो जानी चाहिये' कोई अवकाश नहीं है ॥ ८ ॥

ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी विलक्षणता तथा उनके तत्त्व-ज्ञानसे मोक्षका कथन

किञ्चेदमपरं वैलक्षण्यमित्याह—

इसके सिवा एक दूसरी विलक्षणता यह भी है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ये [ईश्वर और जीव क्रमशः] सर्वज्ञ और अज्ञ तथा सर्वसमर्थ और असमर्थ हैं, ये दोनों ही अजन्मा हैं। एकमात्र अजा प्रकृति ही भोक्ता (जीव) के लिये भोग्यसम्पादनमें नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त और अकर्ता ही है। जिस समय इन [ईश्वर, जीव और प्रकृति] तीनोंको ब्रह्मरूप अनुभव करता है [उस समय जीव कृतकृत्य हो जाता है] ॥ ९ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वाविति। न केवलं व्यक्ताव्यक्तं भरत ईशो नाप्य-

'ज्ञाज्ञौ द्वौ' इत्यादि। ईश्वर व्यक्त और अव्यक्तरूप जगत्का पोषण

नीशः संबध्यते जीवः, अपि तु ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्तावजौ जन्मादिरहितौ । ब्रह्मण एवाविकृतस्य जीवेश्वरात्मनावस्थानात् । तथा च श्रुतिः—

"पुरश्चक्रे द्विपदः
पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा
पुरः पुरुष आविशत् ॥"
(बृ० उ० २ । ५ । १८)

इति ।

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (कठ० २ । २ । ९) इति च । ईशनीशौ, छान्दसं ह्रस्वत्वम् ।

करता है तथा मायाधीन जीव उसमें बँध जाता है—केवल इतना ही नहीं अपि तु वे दोनों क्रमशः ज्ञ और अज्ञ हैं—ईश्वर ज्ञ (सर्वज्ञ) है और जीव अज्ञ है । तथा वे दोनों ही अज—जन्मादिरहित हैं, क्योंकि एकमात्र अविकारी ब्रह्म ही जीव और ईश्वर-भावसे स्थित है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"पुरुषने दो पैरोंवाला शरीर बनाया और चार पैरोंवाला शरीर बनाया और वह पक्षी होकर उन पुरोंमें प्रवेश कर गया," "इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका वह एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपमें उसके अनुरूप हो रहा है तथा उनके बाहर भी है ।" 'ईशनीशौ' इस समस्त पदमें शकारकी ह्रस्वता वैदिक है ।

जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्याभावशङ्कनम्

नन्वद्वैतवादिनो यदि भोक्तृभोग्यलक्षणप्रपञ्चसिद्धिः स्यात्तदा सर्वेशः परमेश्वरः, अनीशो जीवः, सर्वज्ञः परमेश्वरः, असर्वज्ञो जीवः, सर्वकृत्परमेश्वरः, असर्वकृज्जीवः, सर्वभृत्परमेश्वरः देहादिभृज्जीवः, सर्वात्मा परमेश्वरः,

किन्तु अद्वैतवादीके सिद्धान्तमें यदि प्रपञ्चकी सिद्धि हो सकती हो तभी परमेश्वर सर्वेश्वर है, जीव अनीश्वर है, परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव असर्वज्ञ है, परमेश्वर सब कुछ करनेवाला है, जीव कुछ भी नहीं कर सकता, परमेश्वर सबका पोषण करनेवाला है, जीव देहादिका ही पोषक है, परमेश्वर सबका आत्मा है,

असर्वात्मा जीवः, विश्वैश्वर्य आप्तकामः परमेश्वरः, अल्पैश्वर्योऽनाप्तकामो जीवः, "सर्वतः-पाणि०" (श्वेता० उ० ३ । १६) "सहस्रशीर्षा" (श्वेता० उ० ३ । १४) । "नित्यो नित्यानाम्" (श्वेता० उ० ६ । १३) इत्यादिना जीवेश्वरयोर्विलक्षणव्यवहारसिद्धिः स्यात् । न तु भोक्त्रादिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति स्वतः कूटस्थापरिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनोऽभोक्त्रादिरूपत्वात् । नापि परतो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भोक्त्रादिप्रपञ्चहेतुभूतस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । वस्त्वन्तरसद्भावेऽद्वैतहानिरित्याशङ्क्याह—अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्तेति ।

जीव सबका आत्मा नहीं है, परमेश्वर सर्वैश्वर्यसम्पन्न और पूर्णकाम है, जीव अल्पैश्वर्यवान् है और वह पूर्णकाम नहीं है, तथा "उसके सब ओर हाथ हैं" "वह सहस्र मस्तकोंवाला है" "वह नित्योंका नित्य है" इत्यादि वाक्योंसे जीव और ईश्वरके भेदव्यवहारकी सिद्धि हो सकती है । किन्तु भोक्तादि प्रपञ्चकी सिद्धि स्वतः तो हो नहीं सकती, क्योंकि कूटस्थ, अपरिणामी, अद्वितीय वस्तु अभोक्तादिरूप है तथा परतः (किसी अन्यसे) भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त भोक्तादि प्रपञ्चकी हेतुभूत किसी अन्य वस्तुकी सत्ता ही नहीं है । कारण, किसी अन्य वस्तुकी सत्ता स्वीकार करनेपर तो अद्वैत ही सिद्ध नहीं हो सकता । ऐसी शङ्का होनेपर श्रुति कहती है—'भोक्ताके भोग्य-सम्पादनमें एकमात्र अजा (प्रकृति) ही नियुक्त है ।'

मायया वैलक्षण्य-साधनम्

भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि प्रपञ्चासिद्धिरेव स्यात् । सिध्यत्येव प्रपञ्चः । हि यस्मादर्थे । यस्मादजा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा सिद्धा प्रसव-

यदि प्रपञ्च सिद्ध न होता तो यह ईश्वरादिका विभाग न होना सम्भव था, किन्तु प्रपञ्च तो सिद्ध होता है । मूलमें 'हि' शब्द 'क्योंकि' के अर्थमें हैं । क्योंकि अजा—प्रकृति, जो उत्पन्न न होनेके कारण अजा है, प्रसवधर्मिणी सिद्ध है ।

धर्मिणी। "अजामेकाम्"(श्वेता० उ० ४ । ५) । "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० उ० ४ । १०) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) । "माया परा प्रकृतिः" "संभवाम्यात्ममायया" (गीता ४ । ६) । इत्यादि-श्रुतिस्मृतिसिद्धा विश्वजननी देवात्मशक्तिरूपैका स्वविकार-भूतभोक्तृभोगभोग्यार्थप्रयुक्तेश्वर-निकटवर्तिनी किंकुर्वाणावतिष्ठते । तस्मात्सोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधिसंनिधेस्तद्वानिव कार्य-भूतैर्देहादिभिस्तद्वदेव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरादिरूपेणावतिष्ठते । तस्मादेकस्मिन्नेकरसे परमात्मन्य-भ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादि-सर्वलौकिकवैदिकसर्वभेदव्यवहार-सिद्धिः । न च तयोर्वस्त्वन्तरस्य सद्भावादद्वैतवादप्रसक्तिः । मा-याया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वा-योगात् । तथाह—"एषा हि भगवन्माया सदसद्व्यक्तिवर्जिता"। इति ।

अर्थात् "एक अजाको", "मायाको तो प्रकृति जानो", "इन्द्र मायासे अनेकरूप होकर चेष्टा कर रहा है", "माया परा प्रकृति है", "मैं अपनी मायासे जन्म लेता हूँ" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होनेवाली भगवान्की आत्मशक्तिरूपा जगज्जननी एक माया अपने विकार-भूत भोक्ता, भोग और भोग्यके सम्पादनमें नियुक्त होकर ईश्वरकी निकटवर्तिनी किंकरीरूपसे विद्यमान है । अतः वह मायी परमेश्वर भी मायारूप उपाधिकी सन्निधिसे माया-युक्त-सा हो अपने कार्यभूत देहादि विभक्त पदार्थोंके कारण उन्हींके समान ईश्वरादिरूपसे विभक्त हुआ-सा स्थित है । अतः परमात्माको एक और एकरस स्वीकार करनेपर भी जीवेश्वरादि भेदरूप समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध हो सकता है और उन अन्य वस्तुओं-के रहनेसे द्वैतवादकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनिर्वचनीय होनेके कारण माया कोई वस्तु नहीं है । ऐसा ही कहा भी है—"यह भगवान्की माया सदसद्भावसे रहित है" इत्यादि ।

यस्मादजैव भोक्त्रादिरूपा तस्मात्तत्स्वीकृतस्य मिथ्यासिद्ध-वस्तुत्वसंभवादनन्तश्चात्मा । च-शब्दोऽवधारणे । अनन्त एवात्मा । अस्यान्तः परिच्छेदो देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति । विश्वरूपो विश्वमस्यैव रूपमिति; परस्याविश्वरूपत्वात् । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति रूपस्य रूपिव्यतिरेकेणाभावाद्विश्वरूपत्वादप्यानन्त्यं सिद्धमित्यर्थः । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्माद्विश्वरूपवैश्वरूप्यं लक्षणं परमात्मन इत्येवमादिभिरात्मनो विश्वरूपत्वमित्यर्थः । यत

क्योंकि अजा—प्रकृति ही भोक्तादिरूप है इसलिये उसका कल्पना किया हुआ प्रपञ्च मिथ्या और असत् वस्तु होनेसे आत्मा तो अनन्त ही है । मूलमें 'च' शब्द निश्चयार्थक है; अर्थात् आत्मा अनन्त ही है, यानी देश, काल या वस्तु किसीसे भी इसका अन्त—परिच्छेद नहीं है । विश्वरूप अर्थात् विश्व इसीका रूप है, क्योंकि परमात्मा स्वयं तो विश्वरूप है नहीं [अर्थात् विश्वरूपमें उसका परिणाम नहीं होता] । "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इस श्रुतिके अनुसार रूप रूपवान्‌से भिन्न नहीं होता, इसलिये विश्वरूप होनेसे भी इसकी अनन्तता ही सिद्ध होती है ।* यहाँ 'हि' शब्द 'क्योंकि' अर्थमें है, क्योंकि विश्वरूप बहुरूपता परमात्मा-का ही लक्षण है, इसलिये तात्पर्य यह है कि इन सब हेतुओंसे भी आत्माका विश्वरूपत्व सिद्ध होता है । क्योंकि

* तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा परमार्थतः विश्वरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो वह सावयव और परिणामी सिद्ध होगा; तथापि विश्व उससे भिन्न भी नहीं है । अघटनघटनापटीयसी मायाकी महिमासे विशुद्ध आत्मतत्त्वमें ही विश्वरूपभ्रान्ति होती है । अतः आत्मासे पृथक् विश्वकी सत्ता न होनेसे उसकी अनन्ततामें कोई अन्तर नहीं आता ।

एवानन्तो विश्वरूप आत्मात एवाकर्ता कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहित इत्यर्थः।

कदैवमनन्तो विश्वरूपः कर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो मुक्तः पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपेणैवावतिष्ठते ? इत्यत्राह—त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतदिति । त्रयं भोक्तृभोगभोग्यरूपम् । मायात्मकत्वादधिष्ठानभूतब्रह्मव्यतिरेकेण नास्ति किन्तु ब्रह्मैवेति यदा विन्दते तदा निवृत्तनिखिलविकल्पपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मभाक्तर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो वीतशोकः कृतकृत्योऽवतिष्ठत इत्यर्थः । अथवा ज्ञाज्ञाजात्मकजीवेश्वरप्रकृतिरूपत्रयं ब्रह्म यदा विन्दते लभते तदा मुच्यत इति । ब्रह्ममिति मकारान्तं ब्रह्ममेतु मां मधुमेतु माम् इतिवच्छान्दसम् ॥ ९ ॥

आत्मा अनन्त और विश्वरूप है इसीलिये वह अकर्ता अर्थात् कर्तृत्वादि संसारके धर्मोंसे रहित है ।

आत्मा इस प्रकार अनन्त विश्वरूप, कर्तृत्वादि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे रहित, मुक्त और पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही कब स्थित होता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्' त्रय अर्थात् भोक्ता, भोग और भोग्यरूप मायामय होनेसे अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है—ऐसा जिस समय अनुभव करता है उस समय जीवात्मा सम्पूर्ण विकल्पोंके निवृत्त हो जानेसे पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होकर कर्तृत्वादि सकल संसार-धर्मोंसे रहित, शोकहीन और कृतकृत्य होकर स्थित होता है—ऐसा इसका तात्पर्य समझना चाहिये। अथवा ऐसा जानो कि क्रमशः यह ज्ञ, अज्ञ और अजारूप ईश्वर, जीव एवं प्रकृति इन तीनोंको यह ब्रह्मरूपसे प्राप्त (अनुभव) कर लेता है । उस समय यह मुक्त हो जाता है । मूलमें 'ब्रह्मम्' यह मकारान्त प्रयोग 'ब्रह्ममेतु माम्' 'मधुमेतु माम्' इत्यादिके समान वैदिक है ॥ ९ ॥

प्रधान और परमेश्वरकी विलक्षणता तथा उनके तत्त्वज्ञानसे मोक्षका कथन

जीवेश्वरयोर्विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शितम् । इदानीं प्रधानेश्वरयोर्वैलक्षण्यं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—

जीव और ईश्वरका भेद दिखाकर उनके विज्ञानसे अमृतत्व दिखला दिया । अब श्रुति प्रधान और ईश्वरकी विलक्षणता दिखलाकर उनके विज्ञानसे अमृतत्व प्रदर्शित करती है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

विनाशशील प्रधान और अविनाशी जीवात्माको हरसंज्ञक एक देव नियमित करता है । उसके चिन्तनसे, उसमें मनोयोग करनेसे और उसके तत्त्वकी भावना करनेसे प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर विश्वरूप मायाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर इति । अविद्यादेर्हरणात्परमेश्वरो हरः । अमृतं च तदक्षरं चामृताक्षरममृतं ब्रह्मैवेश्वर इत्यर्थः । स ईश्वरः क्षरात्मानौ प्रधानपुरुषावीशत इष्टे देव एकश्चित्सदानन्दाद्वितीयः परमात्मा । तस्य परमात्मनोऽभिध्यानात्, कथम्? योजनाज्जीवानां

'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' इत्यादि । अविद्यादिको हरनेके कारण परमेश्वर हर हैं । जो अमृत और अक्षर है उसे अमृताक्षर कहा है, वह अमृत ब्रह्म ही ईश्वर है । वह एक देव ईश्वर अर्थात् सच्चिदानन्दाद्वितीय परमात्मा क्षर और आत्मा—प्रधान और पुरुषका नियमन करता है । उस परमात्माके अभिध्यानसे, किस प्रकारके अभिध्यानसे ?—योजनासे अर्थात् परमात्माके साथ

परमात्मसंयोजनात्तत्त्वभावात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति भूयश्चासकृदन्ते प्रारब्धकर्मान्ते यद्वा स्वात्मज्ञाननिष्पत्तिरन्तस्तस्मिन्स्वात्मज्ञानोदयवेलायां विश्वमायानिवृत्तिः। सुखदुःखमोहात्मकाशेषप्रपञ्चरूपमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

जीवका योग करानेसे तथा तत्त्वभावसे यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावनासे भूयः—पुनः-पुनः ऐसा होनेपर अन्तमें अर्थात् प्रारब्धकर्मकी समाप्ति होनेपर अथवा आत्मज्ञानकी प्राप्ति ही अन्त है उसके होनेपर अर्थात् आत्मज्ञानके उदयकालमें विश्वमायाकी निवृत्ति होती है। यानी सुख, दुःख एवं मोहमय सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप मायाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

ब्रह्मके ज्ञान और ध्यान-जन्य फलोंमें भेद

इदानीं तद्विदस्तद्ध्यायिनश्च तज्ज्ञानध्यानकृतं फलभेदं दर्शयति—

अब श्रुति ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मध्यानीको ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मध्यानसे होनेवाले फलोंका भेद दिखलाती है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

परमात्माका ज्ञान होनेपर अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशोंका नाश हो जाता है और क्लेशोंका क्षय हो जानेपर जन्म-मृत्युकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उसका ध्यान करनेसे शरीरपातके अनन्तर [विराट् और हिरण्यगर्भकी अपेक्षा कारणब्रह्मरूप] सर्वैश्वर्यमयी तृतीय अवस्थाकी प्राप्ति होती है और फिर आप्तकाम होकर कैवल्यपदको प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

ज्ञात्वेति । ज्ञात्वा देवम् 'अयमहमस्मि' इति, सर्वपाशापहानिः पाशरूपाणां सर्वेषामविद्यादीनामपहानिः । क्षीणैरविद्यादिभिः क्लेशैस्तत्कार्यभूतजन्ममृत्युप्रहाणिर्जननमरणादिदुःखहेतुविनाशः । ज्ञानफलं प्रदर्शितम् ।

ध्याने किञ्चित्क्रममुक्तिरूपं विशेषमाह—तस्य परमेश्वरस्याभिध्यानाद्देहभेदे शरीरपातोत्तरकालमर्चिरादिना देवयानपथा गत्वा परमेश्वरसायुज्यं गतस्य तृतीयं विराड्रूपापेक्षयाव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरावस्थं विश्वैश्वर्यलक्षणं फलं भवति । स तदनुभूय तत्रैव निर्विशेषमात्मानं ज्ञात्वा केवलो निरस्तसमस्तैश्वर्यतदुपाधिसिद्धिरव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरात्मकतृतीयावस्थं वि-

'ज्ञात्वा देवम्' इत्यादि । परमात्माको जानकर अर्थात् 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करके सम्पूर्ण पाशोंका नाश यानी पाशरूप सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंका नाश हो जाता है । तथा क्षीण हुए अविद्यादि क्लेशोंके साथ ही उनके कार्यभूत जन्म-मृत्यु आदिका नाश हो जाता है; अर्थात् जन्म-मृत्यु आदि दुःखके हेतुओंका अन्त हो जाता है । यह ज्ञानका फल दिखाया गया ।

अब ध्यानमें क्रममुक्तिरूप कुछ विलक्षणता बतलायी जाती है—उस परमेश्वरके ध्यानसे देहभेद यानी शरीरपातके अनन्तर अर्चिरादि देवयान-मार्गसे जाकर परमात्माके साथ सायुज्यको प्राप्त हुए पुरुषको विराट्रूपकी अपेक्षा अव्याकृत परमव्योमरूप कारणब्रह्ममें स्थित सम्पूर्ण ऐश्वर्यरूप तृतीय फल प्राप्त होता है । उसका अनुभव कर वह उसी जगह अपनेको निर्विशेष ज्ञानकर, केवल हो जाता है; अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य और उसके साथ रहनेवाली सिद्धिको त्यागकर, यानी अव्याकृत परमव्योममय कारण ईश्वररूप

श्वैश्वर्यं हित्वाप्तकाम आत्मकामः पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपोऽवतिष्ठते ।

एतदुक्तं भवति—सम्यग्दर्शनस्य तथाभूतवस्तुविषयत्वेन निर्विषयपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविषयत्वाद्विज्ञानानन्तरमविद्यातत्कार्यप्रहाणेन पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽवतिष्ठते । ध्यानस्य पुनः सहसा न निराकारे बुद्धिः प्रवर्तत इति सविशेषब्रह्मविषयत्वात् "तं यथा यथोपासते···"इति न्यायेन सविशेषविश्वैश्वर्यलक्षणब्रह्मप्राप्त्या विश्वैश्वर्यमनुभूय निर्विशेषपूर्णानन्दब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामोऽवाप्ताशेषपुमर्थो मुक्तो भवति ।

तथा शिवधर्मोत्तरे ध्यानज्ञानयोर्विश्वैश्वर्यलक्षणं केवलात्मकामाप्तकामलक्षणं च फलं दर्शयति—

तृतीय अवस्थाके सम्पूर्ण ऐश्वर्यको छोड़कर आप्तकाम और आत्मकाम हो पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है ।

यहाँ यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन तो यथार्थ वस्तुको विषय करनेके कारण निर्विशेष पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मविषयक होता है; अतः ब्रह्मज्ञानके अनन्तर अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेसे विद्वान् पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित हो जाता है । किन्तु ध्यानजनित बुद्धि सहसा निराकार ब्रह्ममें प्रवृत्त नहीं होती, अतः वह सविशेष ब्रह्मविषयक होनेसे "उसकी जिस-जिस प्रकार उपासना करता है उसी प्रकार फल मिलता है" इस न्यायसे सर्वैश्वर्यरूप सविशेष ब्रह्मकी प्राप्तिसे वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यका अनुभव कर फिर निर्विशेष पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मको आत्मभावसे जानकर केवल आत्मकामी हो सम्पूर्ण पुरुषार्थको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ।

इसी प्रकार शिवधर्मोत्तरमें भी ध्यान और ज्ञानके क्रमशः विश्वैश्वर्यरूप और केवल आत्मकाम एवं आप्तकामरूप फल दिखाये हैं—

"ध्यानादैश्वर्यमतुल-
मैश्वर्यात्सुखमुत्तमम् ।
ज्ञानेन तत्परित्यज्य
विदेहो मुक्तिमाप्नुयात्" इति ।

तथा च दहरादिसविशेषसगुणोपासकानां "स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० उ० ८।२।१) इत्यादिना विश्वैश्वर्यलक्षणं फलं दर्शयति । तथा च प्रश्नोपनिषदि "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः" (प्र० उ० ५।५) इत्यादिना परं पुरुषमभिध्यायतोऽर्चिरादिमार्गोपदेशपूर्वकं "स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्र० उ० ५।५) इति ब्रह्मलोकं गतस्य तत्रैव सम्यग्दर्शनलाभं दर्शयित्वा "तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति" (प्र० उ० ५।७) इति सम्यग्दर्शनेन मोक्ष

"ध्यानसे अतुलित ऐश्वर्य मिलता है और ऐश्वर्यसे उत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे उनका त्याग करके देहाभिमानसे रहित हो मोक्ष प्राप्त करे।"

इसी प्रकार दहरादि सविशेष और सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंको श्रुति "वह यदि पितृलोककी कामना करता है तो उसके संकल्पसे ही पितृगण उपस्थित हो जाते हैं" इत्यादि वाक्यसे विश्वैश्वर्यरूप फल ही दिखलाती है। तथा प्रश्नोपनिषद्में "जो तीन मात्रावाले ॐ इस अक्षरसे परम पुरुषका ध्यान करता है वह तेजोमय सूर्यमण्डलको प्राप्त होकर" इत्यादि वाक्यसे परम पुरुषका ध्यान करनेवाले पुरुषको अर्चिरादिमार्गका उपदेश करके "वह इस जीवघन (हिरण्यगर्भ) से उत्कृष्टतर सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित परम पुरुषको देखता है" इस प्रकार ब्रह्मलोकमें गये हुए पुरुषको उसी जगह सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति दिखलाकर "विद्वान् उस ओंकाररूप अवलम्बनके द्वारा ही उस शान्त, अजर, अमृत और अभयरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है" इस वाक्यसे सम्यग्दर्शनके द्वारा मोक्षका

उपदिष्टः । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृ० पू० ता० १ । ६) इति विदुषोऽर्चिरादिगमनं विनेहैवामृतत्वप्राप्तिं दर्शयति । "अथाकामयमानः" इत्यारभ्य "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ०उ० ४।४।६) इत्यादिना विनैवोत्क्रान्तिं विदुषो मोक्ष उपदिष्टः । "उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्यहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः" (बृ० उ० ३ । २ । ११) इति प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावो दर्शितः ।

तथा च ब्राह्मे पुराणे जीवन्मुक्तिं गत्यभावं च दर्शयति—

"यस्मिन्काले स्वमात्मानं
योगी जानाति केवलम् ।
तस्मात्कालात्समारभ्य
जीवन्मुक्तो भवेदसौ ॥
मोक्षस्य नैव किञ्चित्स्या-
दन्यत्र गमनं क्वचित् ।
स्थानं पराध्यर्मपरं
यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥

उपदेश किया है । तथा "उसे इस प्रकार जाननेवाला यहाँ अमर हो जाता है" इस वाक्यसे विद्वान्को अर्चिरादि मार्गसे बिना गये यहीं अमृतत्वकी प्राप्ति दिखलायी है । और "जो कामनारहित है" यहाँसे लेकर "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह ब्रह्मस्वरूप हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है" यहाँतक उत्क्रमणके बिना ही विद्वान्के मोक्षका उपदेश किया है । तथा "इसके प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं ? इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं" इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुतिने प्रश्नपूर्वक विद्वान्के उत्क्रमणका अभाव दिखलाया है ।

इसी प्रकार ब्राह्मपुराणमें भी जीवन्मुक्ति और उत्क्रान्तिका अभाव ये दोनों दिखलाये गये हैं—"जिस समय योगी आत्माको शुद्धस्वरूप जान लेता है उसी समयसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है । जिस परार्द्ध-स्थायी [ब्रह्मलोकरूप] अन्य स्थानपर ध्यानयोगी जाते हैं, उसके मोक्षके लिये ऐसे किसी स्थानपर जानेकी आवश्यकता नहीं होती ।

अज्ञानबन्धभेदस्तु
मोक्षो ब्रह्मलयस्त्वति ।"

अज्ञानरूप बन्धनकी निवृत्ति और ब्रह्ममें लीन हो जाना—यही उसका मोक्ष है ।"

तथा लैङ्गे विदुषो जीवन्मुक्तिं दर्शयति—

"इह लोके परे चैव
कर्तव्यं नास्ति तस्य वै ।
जीवन्मुक्तो यतस्तस्माद्
ब्रह्मवित्परमार्थतः ॥"

तथा लिङ्गपुराणमें भी ज्ञानीकी जीवित रहते हुए ही मुक्ति दिखायी है—"क्योंकि ब्रह्मवेत्ता परमार्थतः जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है, इसलिये उसके लिये इस लोक और परलोकमें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता ।"

शिवधर्मोत्तरे—

"वाञ्छात्ययेऽपि कर्तव्यं
किञ्चिदस्य न विद्यते ।
इहैव स विमुक्तः स्यात्
संपूर्णः समदर्शनः ॥"

शिवधर्मोत्तरमें कहा है—"ज्ञानीकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिये उसका कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता । वह पूर्णकाम और समदर्शी होनेसे इसी लोकमें मुक्त हो जाता है ।"

उपासकविदुषोर्गत्युपसंहारः

तस्मादुपासको देहादुत्क्रम्यार्चिरादिना देवयानेन विश्वैश्वर्यं ब्रह्म प्राप्य विश्वैश्वर्यमनुभूय तत्रैव केवलं प्रत्यस्तमितभेदपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामो मुक्तो भवति । विद्वान्निर्विशेषपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविज्ञानादशेषगन्तृगन्त-

अतः उपासक तो देहसे उत्क्रमण कर अर्चिरादि देवयानमार्गसे सर्वैश्वर्यपूर्ण कारणब्रह्मको प्राप्त हो सब प्रकारका ऐश्वर्य भोगनेके अनन्तर वहीं सम्पूर्ण भेदसे रहित पूर्णानन्दस्वरूप अद्वितीय केवल शुद्ध ब्रह्मको आत्मभावसे जानकर केवल आत्मकामी होकर मुक्त हो जाता है । तथा विद्वान् निर्विशेष पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान हो जानेसे गन्ता,

व्यगमनादिभेदप्रत्ययस्तमयाद्विनैवोत्क्रान्ति देवयानं च ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं जीवन्मुक्तो ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं ब्रह्मानन्दमनुभूय आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मनैवान्तःसुखोऽन्तरारामोऽन्तर्ज्योतिरात्मक्रीड आत्मरतिरात्ममिथुन आत्मानन्द इहैव स्वाराज्ये भूम्नि स्वे महिम्न्यमृतोऽवतिष्ठते। तद्धेतुत्वाद्बाह्यविषयपरित्यागेन ब्रह्मण्याधाय वाङ्मनःकायनिष्पाद्यं श्रौतस्मार्तलक्षणं कर्म कृत्वा विशुद्धसत्त्वो योगारूढो भूत्वा शमादिसाधनसंपन्नः।

"योगी युञ्जीत सतत-
मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा
निराशीरपरिग्रहः॥
एवं युञ्जन्सदात्मानं
योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श-
मत्यन्तं सुखमश्नुते॥

गन्तव्य और गमनादि सम्पूर्ण भेदकी निवृत्ति हो जानेसे उत्क्रान्ति और देवयानमार्गके बिना ही ब्रह्मज्ञानके अनन्तर जीवन्मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्मज्ञानके पश्चात् ब्रह्मानन्दका अनुभव कर आत्मरति और आत्मतृप्त हो अपने आत्मामें ही आन्तरिक सुख, रमण एवं प्रकाशका अनुभव करता हुआ आत्मक्रीड, आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होकर इसी लोकमें स्वाराज्य अर्थात् अपनी सार्वभौम महिमामें अमृतरूपसे स्थित हो जाता है। वह बाह्य विषयोंको त्यागकर मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्तकर्मोंको ब्रह्मार्पण करके अनुष्ठान करता हुआ शुद्धचित्त और योगारूढ होकर शमादि साधनोंसे सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि ये ही साधन ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं।

"ध्यानयोगीको एकान्तमें अकेले ही स्थित हो सब प्रकारकी आशा और परिग्रहका त्याग कर शरीर और मनका निग्रह करते हुए निरन्तर योगका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार सर्वदा योगसाधनमें लगा हुआ वह पापहीन योगी सुगमतासे ही ब्रह्म-साक्षात्काररूप अत्यन्त उत्कृष्ट सु

सर्वभूतस्थमात्मानं
सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शनः ॥"
(गीता ६ । १०, २८, २९)
"समं पश्यन्हि सर्वत्र
समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं
ततो याति परां गतिम् ॥"
(गीता १३ । २८)
इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

प्राप्त कर लेता है । जिसकी सर्वत्र समदृष्टि है वह योगयुक्त पुरुष अपने आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्मामें स्थित देखता है ।" "इस प्रकार सर्वत्र समान भावसे स्थित ईश्वरको समानरूपसे देखता हुआ वह स्वयं अपना घात नहीं करता, और फिर परमगतिको प्राप्त होता है ।" इत्यादि स्मृतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्मकी ज्ञातव्यता

यस्माज्ज्ञानानन्तरं परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

क्योंकि ज्ञानके पश्चात् परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसलिये—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

अपने आत्मामें स्थित इस ब्रह्मको सर्वदा ही जानना चाहिये । इससे बढ़कर और कोई ज्ञातव्य पदार्थ नहीं है । भोक्ता (जीव), भोग्य (जगत्) और प्रेरक (ईश्वर)—यह तीन प्रकारसे कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही है—ऐसा जानना चाहिये ॥ १२ ॥

एतत्प्रकृतं केवलात्माकाशब्रह्मरूपं नित्यं नियमेन ज्ञेयम् ।

इस प्रकृत विशुद्ध आत्माकाशस्वरूप ब्रह्मको नित्य—नियमसे जानना

किमत्रान्यसंस्थं न स्वात्मसंस्थं ज्ञेयं नानात्मनि बाह्ये। श्रूयते च—"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" (क० उ० २ । २ । १२) इति ।

तथा च शिवधर्मोत्तरे योगिनामात्मनि स्थितिः—

"शिवमात्मनि पश्यन्ति
प्रतिमासु न योगिनः ।
आत्मस्थं यः परित्यज्य
बहिःस्थं यजते शिवम् ॥
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य
लिह्यात्कूर्परमात्मनः ।
सर्वत्रावस्थितं शान्तं
न पश्यन्तीह शङ्करम् ॥
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वा-
दन्धः सूर्यं यथोदितम् ।
यः पश्येत्सर्वगं शान्तं
तस्याध्यात्मस्थितः शिवः ॥
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति
तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ।

चाहिये । क्या यह किसी अन्यमें स्थित है ? नहीं, इसे अपने आत्मामें ही स्थित जानना चाहिये, किसी बाह्य अनात्मामें नहीं । श्रुति भी कहती है—"जो बुद्धिमान् आत्मामें स्थित उस परब्रह्मको देखते हैं उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं ।"

तथा शिवधर्मोत्तरमें भी योगियोंकी आत्मामें ही स्थिति दिखलायी है—"योगिजन शिवका आत्मामें ही दर्शन करते हैं, प्रतिमाओंमें नहीं । जो पुरुष आत्मामें स्थित शिवका परित्याग कर बाह्य शिवका पूजन करता है वह मानो हाथका ग्रास गिराकर केवल अपनी हथेली चाटता है । जिस प्रकार अन्धा आदमी उदय हुए सूर्यको नहीं देख सकता उसी प्रकार ज्ञाननेत्रोंसे रहित होनेके कारण लोग सर्वत्र विद्यमान शान्तस्वरूप शिवका दर्शन नहीं कर पाते । जो पुरुष सर्वगत शान्तमूर्ति शिवका दर्शन करता है उसके तो अन्तःकरणमें ही शिव विराजमान हैं, किन्तु जो आत्मस्थ शिवको नहीं देख सकते वे ही उन्हें तीर्थस्थानमें

आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य
बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत् ॥
करस्थं स महारत्नं
त्यक्त्वा काचं विमार्गति ।"

खोजते हैं । जो पुरुष आत्मस्थ तीर्थको त्यागकर बाह्य तीर्थादिमें जाता है वह मानो अपने हाथका महारत्न गिराकर काँच ढूँढ़ता फिरता है ।"

अथवैतद्यदपरोक्षं प्रत्यगात्मत्वं तन्नित्यमविनाशि स्वे महिम्नि स्थितं ब्रह्मैव ज्ञेयम् । कस्मात् ? हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मान्नातः परं वेदितव्यमस्ति किञ्चिदपि । श्रूयते च बृहदारण्यके—"तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इति ।

अथवा [इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि] यह जो अपरोक्ष प्रत्यगात्मा है उसे अपनी महिमामें स्थित नित्य और अविनाशी ब्रह्म ही जानना चाहिये । क्यों ?—यहाँ 'हि' शब्द 'यस्मात् (क्योंकि)' अर्थमें है—क्योंकि इससे बढ़कर और कुछ भी जाननेयोग्य नहीं है । बृहदारण्यकश्रुतिमें भी ऐसा ही है—"यह जो आत्मा है वही समस्त जीवोंका गन्तव्य स्थान है ।"

कथमेतज्ज्ञेयम् ? इत्याह—भोक्ता जीवो भोग्यमितरत्सर्वं प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः । तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैवेति । भोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविलापनेनैव निर्विशेषं ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः ।

इसे किस प्रकार जानना चाहिये ? सो श्रुति बतलाती है—जीव भोक्ता है, भोक्ता और अन्तर्यामीसे अतिरिक्त और सब भोग्य है तथा अन्तर्यामी परमेश्वर प्रेरिता है—यह तीन प्रकारसे कहा हुआ ब्रह्म ही है इस प्रकार [जानना चाहिये] । तात्पर्य यह है कि भोक्तादि सम्पूर्ण भेदरूप प्रपञ्चका लय करके ही निर्विशेष ब्रह्मको आत्मस्वरूपसे जानना चाहिये ।

तथा चोक्तं कावषेयगीतायाम्—
"त्यक्त्वा सर्वविकल्पांश्च
स्वात्मस्थं निश्चलं मनः ।
कृत्वा शान्तो भवेद्योगी
दग्धेन्धन इवानलः ॥"
तथा च श्रीविष्णुपुराणे—
"तस्यैव कल्पनाहीन-
स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं
समाधिः सोऽभिधीयते ॥"
(६ । ६ । ९२)
इति ॥ १२ ॥

ऐसा ही कावषेय गीतामें भी कहा है—"योगी सम्पूर्ण विकल्पोंको त्यागकर मनको अपने आत्मामें निश्चलरूपसे स्थिर कर जिसका ईंधन जल चुका है उस अग्निके समान शान्त हो जाता है ।"

तथा श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—"उस ध्येय परमेश्वरका ही जो मनके द्वारा ध्यानसे सिद्ध होनेयोग्य कल्पनाहीन (ध्याता, ध्यान और ध्येयके भेदसे रहित) स्वरूप ग्रहण किया जाता है उसे ही समाधि कहते हैं" ॥ १२ ॥

प्रणवचिन्तनसे ब्रह्म-साक्षात्कारका दृष्टान्तोंद्वारा समर्थन

इदानीम् "ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" (प्र० उ० ५ । ५)। "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (महानारा० २४ । १) "ओमित्यात्मानं ध्यायीत" इति श्रुतेरात्मानमन्विष्य पराभिध्याने प्रणवस्य नियमादभिध्यानाङ्गत्वेन प्रणवं दर्शयति—

अब "ॐ इस अक्षरसे ही परम पुरुषका ध्यान करना चाहिये" "ॐ इस अक्षरके द्वारा ही आत्मचिन्तन करना चाहिये" "ॐ इस अक्षरके द्वारा ही आत्माका ध्यान करना चाहिये" इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मान्वेषण करके उसका ध्यान करनेमें प्रणवचिन्तनका नियम होनेसे श्रुति प्रणवको आत्मचिन्तनके अङ्गरूपसे प्रदर्शित करती है—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

जिस प्रकार अपने आश्रय [काष्ठ] में स्थित अग्निका रूप दिखायी नहीं देता और न उसके लिङ्ग (सूक्ष्मस्वरूप) का ही नाश होता है और फिर ईंधनरूप कारणके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है उसी प्रकार अग्नि और अग्निलिङ्गके समान ही इस देहमें प्रणवके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जा सकता है ॥ १३ ॥

वह्नेर्यथेति वह्नेर्यथा योनिगतस्यारणिगतस्य मूर्तिः स्वरूपं न दृश्यते मथनात्प्राङ्नैव च लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्य विनाशः। स एवारणिगतोऽग्निर्भूयः पुनः पुनरिन्धनयोनिना मथनेन गृह्यः योनिशब्दोऽत्र कारणवचनः। इन्धनेन कारणेन पुनः पुनर्मथनाद्गृह्यः 'तद्वोभयम्' इवार्थो वाशब्दः तच्चोभयं तदुभयमिव मथनात्प्राङ् न गृह्यते मथनेन च गृह्यते तद्वदात्मा वह्निस्था-

'वह्नेर्यथा' इत्यादि। जिस प्रकार योनि अर्थात् अरणिमें स्थित अग्निकी मूर्ति—स्वरूपको मन्थनसे पूर्व देखा नहीं जा सकता और न उसके लिङ्ग यानी सूक्ष्म रूपका नाश ही होता है। तथा अरणिमें स्थित वह अग्नि फिर ईंधनयोनिसे पुनः-पुनः मन्थन करनेपर प्रकट देखा भी जा सकता है। यहाँ 'योनि' शब्द कारणका वाचक है; अर्थात् ईंधनरूप कारणके द्वारा पुनः-पुनः मन्थन करनेपर वह ग्रहण किया जा सकता है। 'तद्वा उभयम्' यहाँ वा शब्द इव (सादृश्य) अर्थमें है। अर्थात् उन दोनों (अग्नि और अग्नि-लिङ्ग) के समान, जैसे मन्थनसे पूर्व उनका ग्रहण नहीं होता था किन्तु मन्थन करनेपर वे दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार अग्निस्थानीय आत्मा

नीयः प्रणवेनोत्तरारणिस्थानीयेन मननाद्गृह्यते देहेऽधरारणिस्थानीये ॥ १३ ॥

उत्तरारणिस्थानीय प्रणवके द्वारा मननसे अधरारणिस्थानीय देहमें ग्रहण किया जा सकता है ॥१३॥

तदेव प्रपञ्चयति—

अब श्रुति उस (मन्थन) का ही विस्तारसे वर्णन करती है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १४ ॥

अपने देहको अरणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे स्वप्रकाश परमात्माको छिपे हुए [अग्नि] के समान देखे ॥ १४ ॥

स्वदेहमिति । स्वदेहमरणिं कृत्वाधरारणिं ध्यानमेव निर्मथनं तस्य निर्मथनस्याभ्यासाद्देवं ज्योतीरूपं प्रपश्येन्निगूढाग्निवत् ॥ १४ ॥

'स्वदेहम्' इत्यादि । अपने देहको अरणि—नीचेका काष्ठ करके, तथा ध्यान ही निर्मन्थन है, उस निर्मन्थनके अभ्याससे देव—ज्योतिस्वरूप परमात्माको छिपे हुए अग्निके समान देखे ॥ १४ ॥

उक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने दृष्टान्तान् बहून्दर्शयति—

उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये श्रुति बहुत-से दृष्टान्त दिखाती है—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

जिस प्रकार तिलोंमें तैल, दहीमें घी, स्रोतोंमें जल और काष्ठोंमें अग्नि देखे जाते हैं उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तपके द्वारा इसे बारंबार देखनेका प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मामें ही दिखायी देता है ॥१५॥

तिलेष्विति । यन्त्रपीडनेन तैलं गृह्यते । दधनि मथनेन सर्पिरिव । आपः स्रोतःसु नदीषु भूखननेन । अरणीषु चाग्निर्मथनेन । एवमात्मात्मनि स्वात्मनि गृह्यतेऽसौ मननेनात्मभूतदेहादिष्वन्नमयाद्यशेषोपाधिप्रविलापनेन निर्विशेषे पूर्णानन्दे स्वात्मन्येवावगम्यत इत्यर्थः ।

'तिलेषु' इत्यादि । जिस प्रकार यन्त्रसे पेरनेपर तिलोंमें तैल दिखायी देता है, मन्थन करनेपर दहीमें घी देखा जाता है, पृथिवी खोदनेपर स्रोत--अन्तःस्रोता नदियोंमें जल दिखायी देता है और मन्थन करनेपर काष्ठोंमें अग्निकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार मननसे आत्मामें अपने अन्तरात्मामें ही इस आत्माकी उपलब्धि होती है, अर्थात् आत्मभूत देहादिमें जो अन्नमयादि सम्पूर्ण उपाधियाँ हैं उनका लय करनेपर अपने निर्विशेष पूर्णानन्दस्वरूप आत्मामें ही इस (परमात्मा) का अनुभव होता है ।

केन तर्हि पुरुषेणात्मन्येव गृह्यते ? इत्यत आह--सत्येन यथाभूतहितार्थवचनेन भूतहितेन । "सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्" इति स्मरणात् । तपसेन्द्रियमनसामैकाग्र्यलक्षणेन । "मनसश्चे-

अच्छा तो किस पुरुषको आत्मामें ही इस आत्माकी उपलब्धि होती है, सो अब बतलाते हैं--सत्यसे अर्थात् यथार्थ और प्राणिमात्रके लिये हितकर सम्भाषणसे, क्योंकि "जो प्राणियोंके लिये हितकर हो उसे सत्य कहते हैं" ऐसी स्मृति है तथा मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रतारूप तपसे, क्योंकि स्मृति कहती है "मन और

न्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात् । एनमात्मानं योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है।" अतः इन सत्य और तपके द्वारा जो इस आत्माको देखता है [उसे इसकी उपलब्धि होती है] ॥ १५ ॥

कथमेनमनुपश्यति ? इत्यत आह—

इस परमात्माको किस प्रकार देखता है ? सो बताते हैं—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

जो आत्मविद्या और तपका मूल है तथा जिसमें परम श्रेय आश्रित है उस सर्वव्यापी आत्माको दूधमें विद्यमान घृतके समान देखता है ॥ १६ ॥

सर्वव्यापिनमिति । सर्वं प्रकृत्यादिविशेषान्तं व्याप्यावस्थितं न देहेन्द्रियाद्यध्यात्ममात्रावस्थितमात्मानं क्षीरे सर्पिरिव सारत्वेन निरन्तरतयात्मत्वेन सर्वेष्वर्पितमात्मविद्यातपसोर्मूलं कारणम् । श्रूयते च—"एष ह्येव साधुकर्म कारयति ।" (कौषी० उ० ३ । ८) "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते (गीता १० । १०) इति ।

'सर्वव्यापिनम्' इत्यादि । जो केवल देहेन्द्रियादि अध्यात्ममात्रमें ही स्थित नहीं है अपि तु प्रकृतिसे लेकर पञ्चभूतपर्यन्त सबको व्याप्त करके स्थित है, उस आत्माको दूधमें साररूपसे स्थित घीके समान सबमें अखण्ड आत्मभावसे विद्यमान तथा आत्मविद्या और तपके मूल यानी कारणरूपसे देखते हैं । श्रुति भी कहती है—"यही शुभ कर्म कराता है", तथा [स्मृति कहती है—] "मैं उन्हें वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।"

अथवात्मविद्या च तपश्च यस्यात्मलाभे मूलं हेतुरिति। तथा च श्रुतिः--"विद्ययामृतमश्नुते"(ई० उ० ११)। "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३। २। १) इति च। ब्रह्मोपनिषत्परमुपनिषण्णमस्मिन्परं श्रेय इति। यः सत्यादिसाधनसंयुक्तः स एनं सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितमात्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमनुपश्यति सर्वगतं ब्रह्मात्मदर्शिनात्मन्येव गृह्यते नासत्यादियुक्तेन परिच्छिन्नब्रह्मान्नमयाद्यात्मना। श्रूयते च--"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १।१६) इति। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १६॥

अथवा ऐसा भी अर्थ हो सकता है--आत्मविद्या और तप ये जिस आत्माकी प्राप्तिके मूल यानी कारण हैं, जैसा कि श्रुति कहती है--"ज्ञानसे अमृतकी प्राप्ति होती है" "तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो" इत्यादि। 'ब्रह्मोपनिषत्परम्'--जिसमें परम श्रेय उपनिषण्ण (आश्रित) है। तात्पर्य यह है कि जो सत्यादि-साधनसम्पन्न है वही जो दूधमें घृतके समान सर्वगत और आत्मविद्या एवं तपका मूल है तथा जो ब्रह्मोपनिषत्पर है, उस सर्वव्यापी आत्माको देखता है। अर्थात् आत्मदर्शी पुरुष इस सर्वगत ब्रह्मको आत्मामें ही देखता है, जो असत्यादियुक्त और अन्नमयादिरूपसे परिच्छिन्न देहमें ही आत्मबुद्धि करनेवाला है उसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती। श्रुति भी कहती है--"यह आत्मा सर्वदा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तथा जिनमें कुटिलता, असत्य और कपट नहीं होता वे ही इसे प्राप्त कर सकते हैं।" यहाँ 'ब्रह्मोपनिषत्परम्' इसका दो बार पाठ अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है॥१६॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

ध्यानकी सिद्धिके लिये सवितासे अनुज्ञा-प्रार्थना

द्वितीयाध्यायारम्भप्रयोजनम्

ध्यानमुक्तं ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवदिति परमात्मदर्शनोपायत्वेन। इदानीं तदपेक्षितसाधनविधानार्थं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तत्सिद्ध्यर्थं सवितारमाशास्ते--

[प्रथम अध्यायमें] 'ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्' इत्यादि मन्त्रसे परमात्माके साक्षात्कारके उपायरूपसे ध्यान बताया गया। अब उसके लिये अपेक्षित साधनोंका विधान करनेके लिये द्वितीय अध्याय आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले उसकी सिद्धिके लिये सविता देवतासे प्रार्थना करते हैं—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥

सविता देवता हमारे मन और अन्य प्राणोंको परमात्मामें लगाते हुए अग्नि आदि [इन्द्रियाभिमानी देवताओं] की ज्योति (बाह्यविषयप्रकाशनसामर्थ्य) का अवलोकन कर तत्त्वज्ञानके लिये उसे पृथिवी (पार्थिव पदार्थों) से ऊपर [शरीरस्थ इन्द्रियोंमें] स्थापित करे ॥ १ ॥

युञ्जान इति। युञ्जानः प्रथमं मनः प्रथमं ध्यानारम्भे मनः परमात्मनि संयोजनीयं धिय इतरानपि प्राणान्। "प्राणा वै

'युञ्जानः' इत्यादि। प्रथम मनको नियुक्त करते हुए अर्थात् पहले—ध्यानके आरम्भमें परमात्मामें लगाये जाने योग्य मन और धियों—अन्य प्राणोंको भी [प्रवृत्त करते हुए]

धियः" इति श्रुतेः । अथवा धियो बाह्यविषयज्ञानानि । किमर्थम् ? तत्त्वाय तत्त्वज्ञानाय सविता धियो बाह्यविषयज्ञानादग्नेर्ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य दृष्ट्वा पृथिव्या अध्यस्मिञ्शरीर आभरदाहरत् ।

सविता देवता अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंके विषयप्रकाशन-सामर्थ्यका अवलोकन कर उसे पृथिवीसे ऊपर इस शरीर [शरीर-रूप इन्द्रियों] में स्थापित करे । किस लिये ?—तत्त्व अर्थात् तत्त्व-ज्ञानके लिये । यहाँ "प्राण ही धी है" इस अन्य श्रुतिके अनुसार 'धियः' का अर्थ प्राण किया गया है । अथवा 'धियः' का अर्थ बाह्य-विषयप्रकाशन भी हो सकता है ।

मन्त्रनिष्कर्षः

एतदुक्तं भवति—ज्ञाने प्रवृत्तस्य मम मनो बाह्यविषयज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव संयोजयितुमनुग्राहकदेवतात्मनामग्न्यादीनां यत्सर्ववस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं तत् सर्वमस्मद्वागादिषु संपादयेत् सविता यत्प्रसादादवाप्यते योग इत्यर्थः । अग्निशब्द इतरासामप्यनुग्राहकदेवतानामुपलक्षणार्थः ॥ १ ॥

यहाँ यह कहा गया है कि जिसकी कृपासे योगकी प्राप्ति होती है, वह सविता देवता ज्ञानमें प्रवृत्त हुए मेरे मनको बाह्य विषयोंके प्रकाशनसे रोककर परमात्मामें ही लगानेके लिये इन्द्रियानुग्राहक अग्नि आदि देवताओंकी जो समस्त वस्तुओं-को प्रकाशित करनेकी शक्ति है उस सबको हमारी वागादि इन्द्रियोंमें स्थापित करे । यहाँ 'अग्नि' शब्द अन्य इन्द्रियानुग्राहक देवताओंको भी उपलक्षित करानेके लिये है ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥

सविता देवताकी अनुमति होनेपर उन्हींकी प्रेरणासे परमात्मामें लगे हुए मनके द्वारा हम यथाशक्ति परमात्मप्राप्तिके हेतुभूत ध्यानकर्मके लिये प्रयत्न करेंगे ॥ २ ॥

युक्तेनेति । यदा तत्त्वाय मनो योजयन्ननुग्राहकदेवताशक्त्याधानेन देहेन्द्रियदार्ढ्यं करोति तदा युक्तेन सवित्रा परमात्मनि संयोजितेन मनसा वयं तस्य देवस्य सवितुः सवेऽनुज्ञायां सत्यां सुवर्गेयाय स्वर्गप्राप्तिहेतुभूताय ध्यानकर्मणे यथासामर्थ्यं प्रयतामहे । परमात्मवचनोऽत्र स्वर्गशब्दः । तत्प्रकरणात्तस्यैव सुखरूपत्वात्तदंशत्वाच्चेतरस्य सुखस्य । तथा च श्रुतिः—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति ॥२॥

'युक्तेन' इत्यादि । जिस समय तत्त्वज्ञानके लिये मनोनिग्रह करते हुए अनुग्राहक देवताओंके शक्ति-सञ्चारके द्वारा [सविता] देह और इन्द्रियोंकी दृढ़ता कर देगा उस समय युक्त—सविता देवताद्वारा परमात्मामें लगाये हुए मनके द्वारा हम उस देवका सव प्राप्त होनेपर अर्थात् उनकी अनुज्ञा मिलनेपर सुवर्गेय—स्वर्गप्राप्तिके हेतुभूत ध्यान-कर्मके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे । यहाँ 'स्वर्ग' शब्द परमात्मवाची है, क्योंकि परमात्माका ही यहाँ प्रकरण है, वही सुखस्वरूप है तथा अन्य सब सुख भी उसीके अंश हैं । ऐसी ही यह श्रुति भी है—"इसी आनन्दकी सूक्ष्मतर मात्राके आश्रयसे अन्य सब जीव जीवित रहते हैं" ॥ २ ॥

युक्त्वायेति पुनरपि सोऽप्येवं करोत्विति प्रार्थना—

'युक्त्वाय' इत्यादि मन्त्रसे, फिर भी वह ऐसा करे—ऐसी प्रार्थना करते हैं—

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माकी ओर जाते हुए तथा सम्यग्दर्शनके द्वारा ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मका प्रकाशन करते हुए मनके सहित इन्द्रियोंको परमात्मासे संयुक्त कर वह सवितृदेव उन्हें अनुज्ञा (सामर्थ्य) प्रदान करे ॥३॥

युक्त्वाय योजयित्वा देवान् मनआदीनि करणानि तेषां विशेषणं सुवः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दब्रह्म, यत इति द्वितीयाबहुवचनं पूर्णानन्दब्रह्म गच्छतो न शब्दादिविषयान् ।

देवताओं, मन आदि इन्द्रियोंको [परमात्मामें] युक्त—संयोजित कर—उन इन्द्रियोंका विशेषण है 'सुवर्यतः' सुवः—अर्थात् स्वर्ग—सुख यानी पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मके प्रति यतः—जाती हुई [इन्द्रियोंको]। यहाँ 'यतः' यह शब्द द्वितीयाका बहुवचन है। तात्पर्य यह है कि पूर्णानन्द ब्रह्मकी ओर जाती हुई इन्द्रियोंको [परमात्मामें संयोजित कर], शब्दादि विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंको नहीं।

पुनरपि विशेषणान्तरं धिया सम्यग्दर्शनेन दिवं द्योतनस्वभावं चैतन्यैकरसं बृहन्महद्ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशं करिष्यतः पूर्णानन्दब्रह्माविष्करिष्यतः । अत्र द्वितीयाबहुवचनम् ।

[इन्द्रियोंके लिये] पुनः एक दूसरा विशेषण भी दिया जाता है—जो 'धिया' यानी सम्यग्दर्शनके द्वारा दिवम्—द्योतनस्वभाव चैतन्यैकरस बृहत्—महत् अर्थात् ब्रह्मको ज्योतिः—प्रकाशित करेंगी, अर्थात् पूर्णानन्द ब्रह्मका प्रादुर्भाव—अनुभव करेंगी [उन इन्द्रियोंको]—यहाँ 'करिष्यतः' में द्वितीयाका बहुवचन है—

सविता प्रसुवाति तान्करणानि । यथा करणानि विषयेभ्यो निवृत्ता-न्यात्माभिमुखान्यात्मप्रकाशमेव कुर्युस्तथानुजानातु सवितेत्यर्थः ॥३॥

उन इन्द्रियोंको सवितृदेव अनुज्ञा देता है । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हो आत्माभिमुखी होकर जिस प्रकार आत्माको ही प्रकाशित करें वैसी अनुज्ञा (सामर्थ्य) उन्हें सवितादेवता प्रदान करे ॥३॥

तस्यैवमनुजानतो महती परि-ष्टुतिः कर्तव्येत्याह--

इस प्रकार अनुज्ञा देनेवाले उस देवकी महती स्तुति करनी उचित है —इस अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

जो विप्रगण मन और इन्द्रियोंको परमात्मामें लगाते हैं उनको चाहिये कि जिस एक प्रज्ञावित्ने होतृसाध्य [यज्ञादि] क्रियाओंका विधान किया है उस महान्, सर्वज्ञ और विप्र (विशेषरूपसे व्यापक) सवितृदेवकी महती स्तुति करें ॥ ४ ॥

युञ्जत इति । युञ्जते योज-यन्ति ये विप्रा मन उत युञ्जते धिय इतराण्यपि करणानि । धी-हेतुत्वात्करणेषु धीशब्दप्रयोगः । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा

'युञ्जते' इत्यादि । जो विप्र—ब्राह्मण, मन एवं अन्य इन्द्रियोंको परमात्मामें लगाते हैं । इन्द्रियाँ बुद्धि-जनित हैं इसलिये उनके लिये 'धी' शब्दका प्रयोग किया गया है । ऐसा ही एक दूसरी श्रुति भी कहती है—"जब मनके सहित पाँच ज्ञान

सह" (क० उ० २।३।१०) इति। विप्रस्य विशेषेण व्याप्तस्य बृहतो महतो विपश्चितः सर्वज्ञस्य देवस्य सवितुर्मही महती परिष्टुतिः कर्तव्या। कैर्विप्रैः।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि--

वि होत्रा दधे होत्राः क्रिया यो विदधे वयुनावित्प्रज्ञावित्सर्वज्ञाना-त्साक्षिभूत एकोऽद्वितीयः। ये विप्रा मनआदिकरणानि विषयेभ्य उपसंहृत्यात्मन्येव योजयन्ति तै-र्विप्रस्य बृहतो विपश्चितो महती परिष्टुतिः कर्तव्या। होत्रा विदधे वयुनाविदेकः सविता ॥ ४ ॥

(ज्ञानेन्द्रियाँ) रुक जाती हैं" इत्यादि। विप्र—विशेषरूपसे व्यापक, बृहत्—महान् एवं विपश्चित्—सर्वज्ञ सवितृदेवकी महती स्तुति करनी चाहिये। किन्हें करनी चाहिये?—ब्राह्मणोंको।

फिर भी उस सवितृदेवके ही विशेषण दिये जाते हैं—'वि होत्रा दधे' जिसने होत्रा यानी यज्ञक्रियाओं-का विधान किया है और जो वयुना-वित्—प्रज्ञावित् अर्थात् सब कुछ जाननेके कारण साक्षिस्वरूप है, वह [सविता देवता] एक—अद्वितीय है। अर्थात् जिसने यज्ञक्रियाओंका विधान किया वह प्रज्ञानवान् सविता एक ही है। अतः जो ब्राह्मण मन आदि इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर आत्मामें ही लगाते हैं उन्हें इस महान् एवं सर्वज्ञ विप्र (विशेषरूपसे व्यापक) सविताकी महती स्तुति करनी चाहिये ॥४॥

किञ्च--

तथा--

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि-
र्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

[हे इन्द्रियवर्ग और इन्द्रियाधिष्ठातृ देवगण !] मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातन ब्रह्ममें नमस्कार (चित्त-प्रणिधान आदि) द्वारा मन लगाता हूँ । सन्मार्गमें विद्यमान विद्वान्‌की भाँति मेरा यह कीर्तनीय श्लोक (स्तुतिपाठ) लोकमें विस्तारको प्राप्त हो । जिन्होंने सब ओरसे दिव्य धामोंपर अधिकार कर रखा है वे अमृत (हिरण्यगर्भ) के पुत्र विश्वेदेवगण श्रवण करें ॥ ५ ॥

युजे वामिति । युजे वां समादधे वां युवयोः करणानुग्राहकयोः संबन्धि प्रकाश्यत्वेन तत्प्रकाशितं ब्रह्मेत्यर्थः । अथवा वामिति बहुवचनार्थे युष्माकं करणभूतं ब्रह्म पूर्व्यं पूर्वं चिरन्तनं समादधे । नमोभिर्नमस्कारैश्चित्तप्रणिधानादिभिः ।

'युजे वाम्' इत्यादि । इन्द्रिय और उनके अनुग्राहक देवगण ! तुम दोनोंके द्वारा प्रकाशनीय होनेके कारण तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्रह्ममें मैं मनको नियुक्त—समाहित करता हूँ; तात्पर्य यह है कि ब्रह्म इनके द्वारा प्रकाशित है । अथवा 'वाम्' इस शब्दका यदि बहुवचनमें अर्थ किया जाय तो 'तुम्हारे करणभूत पूर्वतन—चिरकालीन ब्रह्ममें मैं चित्त समाहित करता हूँ' ऐसा अर्थ होगा । [किस प्रकार चित्त समाहित करता हूँ ?] नमस्कारोंद्वारा अर्थात् चित्त-प्रणिधान (मनोनियोग) आदिके द्वारा ।

एष एवं समादधानस्य मम श्लोकः कीर्तितव्य एतु विविधमेतु पथ्येव सूरेः पथि सन्मार्गे । अथवा पथ्या कीर्तिरित्येतद्वाक्यं

इस प्रकार चित्तसमाधान करनेवाले मेरा कीर्तितव्य श्लोक (स्तोत्र-पाठ) सन्मार्गमें वर्तमान विद्वान्‌के समान विविधरूप (विस्तारको प्राप्त) हो जाय । अथवा ['पथ्या इव' ऐसा पदच्छेद करके] पथ्याका अर्थ कीर्ति करना चाहिये । अर्थात्

प्रार्थनारूपं शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य ब्रह्मणः पुत्राः सूरात्मनो हिरण्यगर्भस्य । के ते ? ये धामानि दिव्यानि दिवि भवान्यातस्थुरधितिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

[विद्वान्‌की कीर्तिकी भाँति मेरा श्लोक विस्तारको प्राप्त हो—] इस प्रार्थनारूप वाक्यको अमृत—ब्रह्म यानी हिरण्यगर्भके सूर्यरूप समस्त पुत्र सुनें । वे कौन हैं ?—जिन्होंने सम्पूर्ण दिव्य—द्युलोकान्तर्गत धामों-पर अधिकार कर रखा है ॥ ५ ॥

सविताकी अनुज्ञाके बिना हानि

युञ्जानः प्रथमं मन इत्यादिना सवित्रादिप्रार्थना प्रतिपादिता । यस्तु पुनः प्रार्थनामकृत्वा तैरननुज्ञातः सन्योगे प्रवर्तते स भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवर्तत इत्याह—

'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादि मन्त्रसे सविता आदिकी प्रार्थना कही गयी । किन्तु जो पुरुष उनकी प्रार्थना न करके उनकी अनुज्ञाके बिना ही योगमें प्रवृत्त होता है उसकी भोगके हेतुभूत कर्मोंमें ही प्रवृत्ति हो जाती है—यह बात अब श्रुति बतलाती है—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

जहाँ (अग्न्याधानादि कर्ममें) अग्निका मन्थन किया जाता है, जहाँ वायुका अधिरोध होता है और जहाँ सोमरसकी अधिकता होती है उन कर्मोंमें ही [उसके] मनकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

अग्निर्यत्रेति । अग्निर्यत्राभिमथ्यत आधानादौ । वायुर्यत्राधि-

'अग्निर्यत्र' इत्यादि । जहाँ अग्न्याधानादिमें अग्निका मन्थन किया जाता है, जहाँ प्रवर्ग्यादि (वायुकी स्तुति

रुध्यते प्रवर्ग्यादौ। सवित्रा प्रेरितः शब्दमभिव्यक्तं करोति। सोमो यत्र दशापवित्रात्पूयमानोऽतिरिच्यते तत्र क्रतौ संजायते मनः।

अग्निर्यत्राभिमथ्यत इत्यत्रापरा व्याख्या—अग्निः परमात्मा, अविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। उक्तं च—"..... अहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (गीता १०। ११) इति। यत्र यस्मिन्पुरुषे मथ्यते स्वदेहमरणिं कृत्वेत्यादिना पूर्वोक्तध्याननिर्मथनेन वायुर्यत्राधिरुध्यते शब्दमव्यक्तं करोति रेचकादिकरणात्। सोमो यत्रातिरिच्यतेऽनेकजन्मसेवया तत्र तस्मिन्यज्ञदानतपःप्राणायामसमाधिविशुद्धान्तःकरणे संजायते

आदि) में वायुका अधिरोध होता है अर्थात् जहाँ सवितासे प्रेरित होकर वायु शब्दको अभिव्यक्त करता है और जहाँ दशापवित्र (छाननेके वस्त्र) से पवित्र किये (छाने हुए) सोमरसकी अधिकता होती है उस यज्ञकार्यमें उसका मन लग जाता है।

'अग्निर्यत्राभिमथ्यते' इस मन्त्रकी यह दूसरी व्याख्या की जाती है—अग्नि परमात्माको कहते हैं, क्योंकि वह अविद्या और उसके कार्यको दग्ध करनेवाला है। [श्रीमद्भगवद्गीतामें] कहा भी है "मैं अपने भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानदीपकसे उनके अज्ञानजनित अन्धकारको नष्ट कर देता हूँ।" उस परमात्माग्निका 'स्वदेहमरणिं कृत्वा' इत्यादि पूर्वमन्त्रसे कहे हुए ध्यानरूप निर्मन्थनके द्वारा जिस पुरुषमें मन्थन होता है, तथा जहाँ वायुका अधिरोध होता है अर्थात् रेचकादि क्रियाओंके कारण जहाँ वायु अव्यक्त शब्द करता है और जहाँ अनेक जन्मोंतक [अग्निकी] सेवा करनेसे सोमकी बहुलता होती है, उस यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम एवं समाधि आदिसे विशुद्ध हुए

परिपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्माकारं मनः समुत्पद्यते, नान्यत्राशुद्धान्तःकरणे । उक्तं च—

"प्राणायामविशुद्धात्मा
यस्मात्पश्यति तत्परम् ।
तस्मान्नातः परं किञ्चि-
त्प्राणायामादिति श्रुतिः ॥
अनेकजन्मसंसार-
चिते पापसमुच्चये ।
तत्क्षीणे जायते पुंसां
गोविन्दाभिमुखी मतिः ॥
जन्मान्तरसहस्रेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां
कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥"

तस्मात्प्रथमं यज्ञाद्यनुष्ठानं ततः प्राणायामादि ततः समाधिस्ततो वाक्यार्थज्ञाननिष्पत्तिस्ततः कृतकृत्यतेति ॥ ६ ॥

अन्तःकरणमें ही पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्माकार मन (मनोवृत्ति)का उदय होता है, अन्यत्र अशुद्ध अन्तःकरणमें नहीं । कहा भी है—

"क्योंकि जिसका चित्त प्राणायामके अभ्याससे शुद्ध हो गया है वही उस परमात्माका साक्षात्कार करता है, इसलिये इस प्राणायामसे बढ़कर कुछ भी नहीं है—ऐसी श्रुति है । अनेक जन्मोंके संसारसे जो पापराशि सञ्चित हो गयी है उसके क्षीण हो जानेपर पुरुषोंकी बुद्धि श्रीगोविन्दकी ओर होती है । सहस्रों जन्मोंके अनन्तर तप, ज्ञान और समाधिके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं उन पुरुषोंकी श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति होती है ।"

अतः सबसे पहले यज्ञादिका अनुष्ठान किया जाता है, फिर प्राणायामादिका, फिर समाधिका और उसके पश्चात् महावाक्यके अर्थका ज्ञान होता है, तथा उससे कृतकृत्यता होती है ॥ ६ ॥

सविताकी अनुज्ञासे लाभ

यस्मादननुज्ञातस्य तस्य भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवृत्तिस्तस्मात्—

क्योंकि [सविता देवताकी] अनुज्ञा न होनेपर उसकी भोगके हेतुभूत कर्ममें ही प्रवृत्ति होती है, इसलिये—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सविता देवताके द्वारा अनुज्ञात होकर उस चिरन्तन ब्रह्मका सेवन करना चाहिये । तुम उस ब्रह्ममें निष्ठा (समाधि) करो । इससे पूर्त कर्म तुम्हारा बन्धन करनेवाला नहीं होगा ॥ ७ ॥

सवित्रा प्रसवेन सत्यप्रसवेनेति यावत् । जुषेत सेवेत ब्रह्म पूर्व्यं चिरन्तनम् । तस्मिन्ब्रह्मणि योनिं निष्ठां समाधिलक्षणां कृणवसे कुरुष्व । एवं कुर्वतो मम किं ततो भवति ? इत्यत आह—न हि त इति । न हि ते पूर्तं स्मार्तं कर्मेष्टं श्रौतं च कर्माक्षिपन्न पुनर्भोगहेतोर्बध्नाति, ज्ञानाग्निना सबीजस्य दग्धत्वात् । उक्तं च—"यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५ । २४ । ३) इति । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" (गीता ४ । ३७) इति च ॥ ७ ॥

सविताद्वारा प्रसूत यानी जो अन्न प्रसव करनेवाला है उस सविताद्वारा अनुज्ञात होकर चिरन्तन ब्रह्मका सेवन करना चाहिये । उस ब्रह्ममें तुम योनि—समाधिरूप निष्ठा करो । ऐसा करनेपर मुझे उससे क्या होगा ? सो श्रुति बतलाती है—'न हि ते' इत्यादि । इससे तुम्हारा पूर्त—स्मार्त्त इष्टकर्म और श्रौतकर्म भी पुनः भोगके हेतुसे बन्धन नहीं करेगा; क्योंकि ज्ञानाग्निके द्वारा वह बीजसहित भस्म हो जायगा। कहा भी है—"जिस प्रकार अग्निमें डाला हुआ सींकका रूआँ भस्म हो जाता है उसी प्रकार इस (ज्ञानी) के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं", "इसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर डालता है" इत्यादि ॥ ७ ॥

ध्यानयोगकी विधि और उसका महत्त्व

तत्र योनिं कृणध्वस इत्युक्तं कथं योनिकरणम्? इत्याशङ्क्य तत्प्रकारं दर्शयति—

ऊपर यह कहा गया कि 'उसमें समाधि करो, सो वह समाधि किस प्रकार की जाय, ऐसी आशङ्का करके उसका प्रकार दिखाते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

[शिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल—इन] तीनोंको ऊँचे रखते हुए शरीरको सीधा रख मनके द्वारा इन्द्रियोंको हृदयमें सन्निविष्ट कर विद्वान् ओंकाररूप नौकाके द्वारा सम्पूर्ण भयानक जलप्रवाहोंको पार कर जाता है ॥ ८ ॥

त्रिरुन्नतमिति। त्रीण्युरोग्रीवाशिरांस्युन्नतानि यस्मिञ्शरीरे तत्त्रिरुन्नतं संस्थाप्यते समं शरीरम्। हृदीन्द्रियाणि मनश्चक्षुरादीनि मनसा संनिवेश्य संनियम्य ब्रह्मैवोडुपस्तरणसाधनं तेन ब्रह्मोडुपेन। ब्रह्मशब्दं प्रणवं वर्णयन्ति। तेनोडुपस्थानीयेन प्रणवेन, काकाक्षिवदुभयत्र संब-

'त्रिरुन्नतम्' इत्यादि। वक्षःस्थल, ग्रीवा और शिर—ये तीन जिसमें उन्नत (उठे हुए) रखे जाते हैं उस त्रिरुन्नत शरीरको समानभावसे स्थित किया जाता है। तथा मनके द्वारा मन एवं चक्षु आदि इन्द्रियोंको हृदयमें नियन्त्रित कर ब्रह्म ही उडुप—तरणका साधन है, उस ब्रह्मरूप उडुपके द्वारा—यहाँ आचार्यलोग 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ प्रणव बतलाते हैं, उस उडुप (नौका) स्थानीय प्रणवके द्वारा। काकाक्षिन्यायसे[1]

१. कौएके दोनों नेत्रगोलकोंमें एक ही आँख होती है, उसीसे वह दोनों ओर देख लेता है। इसी प्रकार जहाँ एक वस्तुका दो वस्तुओंके साथ सम्बन्ध होता है वहाँ काकाक्षिन्याय कहा जाता है।

ध्यते। तेनोपसंहृत्य तेन प्रतरेताति क्रामेद्विद्वान्स्रोतांसि संसारसरितः स्वाभाविकाविद्याकामकर्मप्रवर्तितानि भयावहानि प्रेततिर्यगूर्ध्वप्राप्तिकराणि पुनरावृत्तिभाञ्जि ॥ ८ ॥

इसका [संनिवेश और तरण] दोनोंके साथ सम्बन्ध है। अर्थात् प्रणवके द्वारा मन और इन्द्रियोंको नियमित कर प्रणवहीसे विद्वान् संसारसरिताके स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मोंद्वारा प्रवर्तित भयावह—प्रेत, तिर्यक् एवं ऊर्ध्व योनियोंको प्राप्त करानेवाले पुनरावृत्तिके हेतुभूत स्रोतोंको पार कर लेता है ॥ ८ ॥

प्राणायामका क्रम और उसकी महत्ता

प्राणायाम-निर्देशः

प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्तव्यम्। ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिणनासिकापुटमङ्गुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद्यथाशक्ति। ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेद्यथाशक्ति। त्रिः पञ्चकृत्वो वा एवम् अभ्यस्यतः सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षा-

प्राणायामके द्वारा जिसके पाप क्षीण हो गये हैं उसका चित्त ब्रह्ममें स्थिर हो जाता है, इसलिये प्राणायामका वर्णन किया जाता है। पहले नाडीशोधन करना चाहिये। उसके पीछे प्राणायाममें अधिकार होता है। दायें नासारन्ध्रको अँगूठेसे दबाकर बायेंसे यथाशक्ति वायु खींचे। तत्पश्चात् दायीं नासिकाको छोड़कर इसी प्रकार [वाम नासारन्ध्रको अँगुलियोंसे दबावे और] दायेंसे वायुको बाहर निकाले। फिर दायेंसे पूरक करके यथाशक्ति बायें नासिकारन्ध्रसे रेचक करे। इस प्रकार शेषरात्रि, मध्याह्न, पूर्वरात्रि और अर्धरात्रि—इन चार समय तीन-तीन या पाँच-पाँच बार अभ्यास करनेवालेकी एक पक्ष या एक

न्मासाद्विशुद्धिर्भवति । त्रिविधः प्राणायामो रेचकः पूरकः कुम्भक इति । तदेवाह--

मासमें नाडीशुद्धि हो जाती है । यह रेचक, कुम्भक और पूरकभेदसे तीन प्रकारका प्राणायाम है । ऐसा ही कहा भी है--

"आसनानि समभ्यस्य
वाञ्छितानि यथाविधि ।
प्राणायामं ततो गार्गि
जितासनगतोऽभ्यसेत् ॥
मृद्वासने कुशान्सम्य-
गास्तीर्याजिनमेव च ।
लम्बोदरं च संपूज्य
फलमोदकभक्षणैः ॥
तदासने सुखासीनः
सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
समग्रीवशिराः सम्य-
क्संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि
नासाग्रन्यस्तलोचनः ।
अतिभुक्तमभुक्तं च
वर्जयित्वा प्रयत्नतः ॥
नाडीसंशोधनं कुर्या-
दुक्तमार्गेण यत्नतः ।
वृथा क्लेशो भवेत्तस्य
तच्छोधनमकुर्वतः ॥
नासाग्रे शशभृद्बीजं
चन्द्रातपवितानितम् ।

"हे गार्गि ! अपने अभीष्ट आसनोंका यथाविधि अभ्यास कर फिर जिस आसनका अभ्यास हो उससे बैठकर प्राणायामका अभ्यास करे । कोमल आसनपर सम्यक् प्रकार-से कुशा और मृगचर्म बिछाकर फल तथा मोदक आदि नैवेद्यके द्वारा गणेशजीका पूजन कर उस आसनपर बायें हाथपर दायाँ हाथ रखे हुए सुखपूर्वक बैठे । शिर और ग्रीवाको सीधे रखे, मुखको [किसी वस्त्रसे] अच्छी तरह ढँक ले तथा शरीरको निश्चल रखे । इस प्रकार नासिकाग्र-पर दृष्टि लगाकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठ जाय । तथा अतिभोजन और अभोजनको प्रयत्न-पूर्वक त्यागकर शास्त्रोक्त पद्धतिसे नाडीशोधन करे । जो योगी नाडी-शोधन किये बिना अभ्यास करता है उसका श्रम व्यर्थ होता है । नासिकाग्रपर चन्द्रिकायुक्त विश्वव्यापी चन्द्रबीज (ठँ या मँ) को तथा

सप्तमस्य तु वर्गस्य
चतुर्थं बिन्दुसंयुतम् ॥
विश्वमध्यस्थमालोक्य
नासाग्रे चक्षुषी उभे ।
इडया पूरयेद्वायुं
बाह्यं द्वादशमात्रकैः ॥
ततोऽग्निं पूर्ववद्ध्याये-
त्स्फुरज्ज्वालावलीयुतम् ।
रेफं च बिन्दुसंयुक्तं
शिखिमण्डलसंस्थितम् ॥
ध्यायेद्विरेचयेद्वायुं
मन्दं पिङ्गलया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य
घ्राणं दक्षिणतः सुधीः ॥
तद्वद्विरेचयेद्वायु-
मिडया तु शनैः शनैः ।
त्रिचतुर्वत्सरं चापि
त्रिचतुर्मासमेव वा ॥
गुरुणोक्तप्रकारेण
रहस्येवं समभ्यसेत् ।
प्रातर्मध्यंदिने सायं
स्नात्वा षट्कृत्व आचरेत् ॥
सन्ध्यादिकर्म कृत्वैव
मध्यरात्रेऽपि नित्यशः ।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति
तच्चिह्नं दृश्यते पृथक् ॥

सप्तम वर्गके बिन्दुयुक्त चतुर्थ वर्ण (वं) को स्थापित कर दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागपर स्थापित करे । इडा (वाम) नाडीद्वारा द्वादशमात्रा-क्रमसे बाह्यवायुको भीतर खींचे । फिर पूर्ववत् देदीप्यमान शिखाओंसे युक्त अग्निका ध्यान करे और उस अग्निमण्डलमें स्थित बिन्दुयुक्त रेफ (रं) का ध्यान करे । तत्पश्चात् धीरे-धीरे पिङ्गला (दायीं) नाडीसे वायुको निकाल दे । फिर वह मूर्तिमान् योगी दायें नासारन्ध्रसे पिङ्गला नाडीद्वारा प्राण खींचकर उसे धीरे-धीरे इडा नाडीद्वारा बाहर निकाले । इस प्रकार गुरुकी बतलायी हुई विधिसे एकान्तमें तीन-चार वर्ष या तीन-चार मासतक अभ्यास करे । प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सायंकालमें स्नान कर सन्ध्यादि कर्मों-से निवृत्त हो छः-छः प्राणायाम करे तथा नित्यप्रति मध्यरात्रिमें भी अभ्यास करे । ऐसा करनेसे उसकी नाडीशुद्धि हो जाती है और उसके चिह्न स्पष्ट दीखने लगते हैं ।

१. जितने समयमें हाथ जानुमण्डलके चारों ओर घूम जाय उसे एक मात्रा कहते हैं ।

शरीरलघुता दीप्ति-
जठराग्निविवर्धनम् ।
नादाभिव्यक्तिरित्येत-
ल्लिङ्गं तच्छुद्धिसूचनम् ॥
शुध्यन्ति न जपैस्तेन
स्पर्शशुद्धेरहेतवः ।
प्राणायामं ततः कुर्या-
द्रेचपूरककुम्भकैः ॥
प्राणापानसमायोगः
प्राणायामः प्रकीर्तितः ।
प्रणवं त्र्यात्मकं गार्गि
रेचपूरककुम्भकम् ॥
तदेतत्प्रणवं विद्धि
तत्स्वरूपं ब्रवीम्यहम् ।
यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो
वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः ॥
तयोरन्तं तु यद्गार्गि
वर्गपञ्चकपञ्चमम् ।
रेचकं प्रथमं विद्धि
द्वितीयं पूरकं विदुः ॥
तृतीयं कुम्भकं प्रोक्तं
प्राणायामस्त्रिरात्मकः ।
त्रयाणां कारणं ब्रह्म
भारूपं सर्वकारणम् ॥
रेचकः कुम्भको गार्गि
सृष्टिस्थित्यात्मकावुभौ ।

शरीरका हल्कापन, कान्ति, जठराग्निकी वृद्धि, नादका सुनायी देने लगना—ये सब नाडीशुद्धिकी सूचना देनेवाले चिह्न हैं। नाडियोंकी शुद्धि जप करनेसे नहीं होती, अतः वह नाडीशुद्धिका हेतु नहीं है।

"इसके पश्चात् रेचक, पूरक और कुम्भक क्रमसे प्राणायाम करे। प्राण और अपानका संयोग होना ही प्राणायाम कहलाता है। हे गार्गि! प्रणव त्रिरूप है। ये जो रेचक, पूरक और कुम्भक हैं इन्हें प्रणव ही समझो। मैं तुम्हें प्रणवका स्वरूप बतलाता हूँ। वेदके आदिमें जो स्वर (अ) है और जो स्वर (उ) वेदान्तोंमें स्थित है तथा इनके पीछे जो पञ्चम वर्ग (पवर्ग) का पञ्चम वर्ण (म) है, इन [ओंकारकी तीन मात्रा अ, उ और म] में प्रथम वर्णको रेचक जानो, द्वितीयको पूरक समझा जाता है और तृतीयको कुम्भक बतलाया गया है। इस प्रकार यह तीन अङ्गोंवाला प्राणायाम है। इन तीनोंका कारण सभीका कारणरूप प्रकाशमय ब्रह्म है। हे गार्गि! रेचक और कुम्भक—ये दोनों तो क्रमशः सृष्टि और स्थिति-

पूरकस्त्वथ संहारः
कारणं योगिनामिह ॥
पूरयेत्षोडशैर्मात्रै-
रापादतलमस्तकम् ।
मात्रैर्द्वात्रिंशकैः पश्चा-
द्रेचयेत्सुसमाहितः ॥
संपूर्णकुम्भवद्वायो-
र्निश्चलं मूर्धदेशतः ।
कुम्भकं धारणं गार्गि
चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥
ऋषयस्तु वदन्त्यन्ये
प्राणायामपरायणाः ।
पवित्रभूताः पूतान्त्राः
प्रभञ्जनजये रताः ॥
तत्रादौ कुम्भकं कृत्वा
चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।
रेचयेत्षोडशैर्मात्रै-
र्नासेनैकेन सुन्दरि ॥
तयोश्च पूरयेद्वायुं
शनैः षोडशमात्रया ।
प्राणस्यायमनं त्वेवं
वशं कुर्याज्जयी वशी ॥
पञ्च प्राणाः समाख्याता
वायवः प्राणमाश्रिताः ।
प्राणो मुख्यतमस्तेषु
सर्वप्राणभृतां सदा ॥

रूप हैं तथा पूरक संहाररूप है। इस प्रकार ये योगियोंकी उत्पत्त्यादिके कारण हैं। पहले षोडशमात्राक्रमसे पैरोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त पूरक करे। फिर खूब सावधानीसे बत्तीसमात्राक्रमसे रेचक करे और हे गार्गि! भरे हुए घड़ेके समान चौसठमात्राक्रमसे मूर्द्धदेशमें कुम्भक करता हुआ वायुको निश्चलभावसे धारण करे।

"इसके सिवा हे सुन्दरि! जिन्होंने भूत और आँतोंकी शुद्धि की है ऐसे प्राणजयमें तत्पर कुछ अन्य प्राणायामपरायण ऋषियोंका कहना है कि पहले चौसठमात्राक्रमसे कुम्भक करके एक नासारन्ध्रसे षोडशमात्राक्रमसे रेचक करे। इसके पश्चात् षोडशमात्राक्रमसे दोनों नासारन्ध्रोंमें वायु पूर्ण करे। इस प्रकार प्राणजयी योगी प्राणसंयमको अपने अधीन कर ले।

"प्राण पाँच कहे गये हैं, वे प्राणके आश्रित पाँच दैहिक वायु हैं। समस्त प्राणियोंके शरीरोंके अन्तर्गत उन पाँच प्राण-वायुओंमें प्राण सबसे मुख्य है। वह प्राण

ओष्ठनासिकयोर्मध्ये
हृदये नाभिमण्डले ।
पादाङ्गुष्ठाश्रितः प्राणः
सर्वाङ्गेषु च तिष्ठति ॥
नित्यं षोडशसंख्याभिः
प्राणायामं समभ्यसेत् ।
मनसा प्रार्थितं याति
सर्वप्राणजयी भवेत् ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्
धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहाराच्च संसर्गान्
ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥
प्राणायामशतं स्नात्वा
यः करोति दिने दिने ।
मातापितृगुरुघ्नोऽपि
त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥"
तदेतदाह प्राणानित्यादिना—

ओष्ठ और नासिकाके मध्यमें, हृदयमें, नाभिमण्डलमें तथा पैरोंके अँगूठोंमें भी रहता हुआ शरीरके सभी अङ्गोंमें विद्यमान है । नित्यप्रति सोलह प्राणायामोंका अभ्यास करे, इससे मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं और वह योगाभ्यासी समस्त प्राणोंपर विजय प्राप्त कर लेता है । साधकको चाहिये कि प्राणायामद्वारा शारीरिक दोषोंको भस्म करे, धारणासे पापोंका नाश करे, प्रत्याहारसे वैषयिक संसर्गोंका अन्त करे और ध्यानसे अनीश्वर गुणोंकी निवृत्ति करे । जो पुरुष प्रतिदिन स्नान करके सौ प्राणायाम करता है वह यदि माता, पिता या गुरुकी हत्या करनेवाला हो तो भी तीन वर्षमें उस पापसे मुक्त हो जाता है ।"

यही बात 'प्राणान्' इत्यादि मन्त्रसे बतलायी जाती है—

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेन
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

साधकको चाहिये कि युक्त आहार-विहार करता हुआ प्राणोंका निरोध कर जब प्राणशक्ति (प्राणधारणका सामर्थ्य) क्षीण हो जाय तब

नासिकारन्ध्रद्वारा उसे बाहर निकाल दे। और फिर वह विद्वान् पुरुष दुष्ट अश्वसे युक्त रथके सारथिके समान सावधान होकर मनका नियन्त्रण करे ॥ ९ ॥

प्राणान्प्रपीडचेह संयुक्तचेष्टः ''नात्यश्नतः'' (गीता ६ । १६) इति श्लोकोक्तप्रकारेण संयुक्ता चेष्टा यस्य स संयुक्तचेष्टः। क्षीणे शक्तिहान्या तनुत्वं गते मनसि नासिकायाः पुटाभ्यां शनैः शनैरुत्सृजेन्न मुखेन। वायुं प्रतिष्ठाप्य- शनैर्नासिकयोत्सृजेदिति। उदात्ताश्वयुतं रथनियन्तारमिव मननेन मनो धारयेताप्रमत्तः प्रणिहितात्मा ॥ ९ ॥

जिसकी चेष्टा ''नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति'' इत्यादि श्लोकमें बतलाये हुए नियमके अनुसार संयुक्त यानी संयत है उसे संयुक्तचेष्ट कहते हैं। प्राणके क्षीण होनेपर अर्थात् प्राणशक्तिका ह्रास होनेसे मनके तनु हो जानेपर नासिकारन्ध्रोंके द्वारा धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाले, मुखसे नहीं। तात्पर्य यह है कि वायुको रोककर फिर उसे धीरे-धीरे नासिकासे निकाले। फिर अप्रमत्त—सावधान रहकर उद्धत घोड़ोंवाले रथके सारथिके समान मनको मनन करनेसे रोके ॥ ९ ॥

ध्यानके लिये उपयुक्त स्थानोंका निर्देश

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

जो समतल, पवित्र, शर्करा, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रयादिसे भी शून्य हो, मनके अनुकूल हो एवं नेत्रोंको पीड़ा देनेवाला न हो ऐसे गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें मनको युक्त करे ॥ १० ॥

सम इति । समे निम्नोन्नतरहिते देशे । शुचौ शुद्धे । शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते । शर्कराः क्षुद्रोपलाः, वालुकास्तच्चूर्णम् । तथा शब्दजलाश्रयादिभिः । शब्दः कलहादिध्वनिः । जलं सर्वप्राण्युपभोग्यम् । मण्डप आश्रयः । मनोऽनुकूले मनोरमे चक्षुपीडने प्रतिवाद्यभिमुखे । छान्दसो विसर्गलोपः । गुहानिवाताश्रयणे गुहायामेकान्ते निवाते समाश्रित्य प्रयोजयेत्प्रयुञ्जीत चित्तं परमात्मनि ॥ १० ॥

'समे' इत्यादि । सम अर्थात् जो देश ऊँचाई-नीचाईसे रहित हो, तथा जो शुचि—शुद्ध हो, शर्करा, अग्नि और बालूसे रहित हो—शर्करा छोटे-छोटे पत्थरके टुकड़ोंको और बालू उनके चूरेको कहते हैं—तथा शब्द, जल और आश्रयादिसे भी शून्य हो, यानी शब्द—कलह आदिके कोलाहल, समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाले जल (पनघट) और आश्रय—जनसाधारणके ठहरनेके स्थानसे रहित हो, मनोऽनुकूल— मनोरम हो, नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला अर्थात् जहाँ कोई विरोधी सामने [न] हो। यहाँ 'चक्षुपीडने' में चक्षुःके विसर्गका लोप वैदिक है । ऐसे गुहादि एकान्त और वायुशून्य स्थानमें बैठकर चित्तको प्रयुक्त करे अर्थात् परमात्मामें लगावे ॥ १० ॥

योगसिद्धिके पूर्वलक्षण

इदानीं योगमभ्यस्यतोऽभिव्यक्तिचिह्नानि वक्ष्यन्ते नीहार इत्यादिना—

अब 'नीहार०' इत्यादि मन्त्रके द्वारा योगाभ्यासीको प्रकट होनेवाले ब्रह्माभिव्यक्तिके पूर्वचिह्न बतलाये जाते हैं—

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।

एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

योगाभ्यास आरम्भ करनेपर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत (जुगनू), विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमा इनके रूप ब्रह्मकी अभिव्यक्ति करनेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

नीहारस्तुषारः । तद्वत्प्राणैः समा चित्तवृत्तिः प्रवर्तते । ततो धूम इवाभाति । ततोऽर्कवत्ततो वायुरिवाभाति । ततो वह्निरिवात्युष्णो वायुः प्रकाशदहनः प्रवर्तते । बाह्यवायुरिव संक्षुभितो बलवान्विजृम्भते । कदाचित्खद्योतखचितमिवान्तरिक्षमालक्ष्यते । विद्युदिव रोचिष्णुरालक्ष्यते कदाचित्स्फटिकाकृतिः । कदाचित्पूर्णशशिवत् । एतानि रूपाणि योगे क्रियमाणे ब्रह्मण्याविष्क्रियमाणे निमित्ते पुरःसराण्यग्रगामीणि । तदा परमयोगसिद्धिः ११

नीहार कुहरेको कहते हैं, प्राणोंके सहित चित्तवृत्ति कुहरेके समान प्रवृत्त होने लगती है ।* उसके पश्चात् धूआँ-सा भासने लगता है । फिर सूर्यवत् और उसके पश्चात् वायु-सा प्रतीत होता है । तदनन्तर वायु अग्निके समान अत्यन्त उष्ण एवं प्रकाश और दाह करनेवाला जान पड़ता है तथा बाह्यवायुके समान अत्यन्त क्षुभित होकर बड़ा बलवान् जान पड़ता है । कभी जुगनुओंसे जगमगाता हुआ-सा आकाश दिखायी देने लगता है, कभी विद्युत्के समान तेजोमयी वस्तु दीखती है, कभी स्फटिकका आकार दीख पड़ता है और कभी पूर्ण चन्द्रमा-सा दिखायी देता है । ब्रह्मानुसन्धानके प्रयोजनसे किये जानवाले योगमें ये सब रूप पहले दिखायी देते हैं । इसके पश्चात् परमयोगकी सिद्धि होती है ॥ ११ ॥

* अर्थात् अभ्यासकालमें मनोवृत्तिके सामने कुहरा-सा छा जाता है ।

रोग, जरा और अकालमृत्युपर विजय पानेके चिह्न

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १ २॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशकी अभिव्यक्ति होनेपर अर्थात् पञ्चभूतमय योग-गुणोंका अनुभव होनेपर जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है उस योगीको न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु ही होती है ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १ ३॥

शरीरका हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्तिकी निवृत्ति, शारीरिक कान्तिकी उज्ज्वलता, स्वरकी मधुरता, सुगन्ध और मल-मूत्रकी न्यूनता—इन सबको योगकी पहली सिद्धि कहते हैं ॥ १३ ॥

पृथ्वीति । पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे पृथिव्यादीनि भूतानि द्वन्द्वैकवद्भावेन निर्दिश्यन्ते । तेषु पञ्चसु भूतेषु समुत्थितेषु पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्त इत्यस्य व्याख्यानम्। कः पुनर्योगगुणः प्रवर्तते ?

'पृथ्व्यप्तेजो०' इत्यादि । 'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे' इस पदसे समाहारद्वन्द्वसमाससम्बन्धी एकवद्भावद्वारा पृथिवी आदि पाँच भूतोंका निर्देश किया गया है । उन पाँचों भूतोंके प्रकट होनेपर अर्थात् पञ्चात्मक योगगुणके प्रवृत्त होनेपर -इस प्रकार यह इसकी व्याख्या है । वह कौन योगगुण प्रवृत्त होता

पृथिव्या गन्धवत्या गन्धो योगिनो भवति । तथाद्भ्यो रसः । एवमन्यत्र उक्तं च—

"ज्योतिष्मती स्पर्शवती
तथा रसवती परा ।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता
चतस्रस्तु प्रवृत्तयः ॥
आसां योगप्रवृत्तीनां
यद्येकापि प्रवर्तते ।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहु-
र्योगिनो योगचिन्तकाः ।"

न तस्य योगिनो रोगो न जरा न मृत्युर्वा प्रभवति । कस्य ? प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् । योगाग्निसंप्लुष्टदोषकलापं शरीरं प्राप्तस्य । स्पष्टमन्यत् ॥१२-१३॥

है ? [सो बतलाते हैं—] गन्धवती पृथिवीका गुण गन्ध उस योगीको अनुभव होता है तथा जलसे रसकी प्रवृत्ति होती है । इसी प्रकार अन्य भूतोंके विषयमें समझना चाहिये । कहा भी है—"ज्योतिष्मती, स्पर्शवती और रसवती तथा इनसे भिन्न एक गन्धवती—ये योगीकी चार प्रवृत्तियाँ कही गयी हैं । इन योगप्रवृत्तियोंमेंसे यदि एककी भी प्रवृत्ति हो जाय तो योगिजन उस साधकको योगमें प्रवृत्त हुआ बतलाते हैं ।

उस योगीको न रोग होता है, न वृद्धावस्था होती है और न मृत्युका ही उसपर प्रभाव होता है । किसे ? जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है अर्थात् जिसे ऐसा शरीर प्राप्त हो गया है कि जिसके दोषसमूह योगाग्निसे भस्म हो गये हैं । शेष (तेरहवें मन्त्रका) अर्थ स्पष्ट है ॥ १२-१३ ॥

योगसिद्धि या तत्त्वज्ञानका प्रभाव

किञ्च— | तथा—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।

तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

जिस प्रकार मृत्तिकासे मलिन हुआ विम्ब (सोने या चाँदीका टुकड़ा) शोधन किये जानेपर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है ॥ १४ ॥

यथैवेति । यथैव विम्बं सौवर्णं राजतं वा मृदयोपलिप्तं मृदादिना मलिनीकृतं पूर्वं पश्चात्सुधान्तं सुधौतमित्यस्मिन्नर्थे सुधान्तमिति च्छान्दसम् । अग्न्यादिना विमलीकृतं तेजोमयं भ्राजते । तद्वा तदेवात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य दृष्ट्वैकोऽद्वितीयः कृतार्थो भवते वीतशोकः । परेषां पाठे तद्वत्सतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देहीति । तत्राप्ययमेवार्थः ॥ १४ ॥

'यथैव' इत्यादि । जिस प्रकार सुवर्ण या रजतका पिण्ड पहले मिट्टीसे भरा हुआ अर्थात् मिट्टी आदिसे मलिन हुआ रहनेपर फिर सुधान्त अर्थात् अग्नि आदिसे सुधौत यानी निर्मल किये जानेपर तेजोमय होकर चमकने लगता है—मूलमें 'सुधौतम्' के अर्थमें 'सुधान्तम्' यह प्रयोग वैदिक है—उसी प्रकार आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेपर जीव अद्वितीय, कृतार्थ और शोकरहित हो जाता है । अन्य शाखाओंमें जहाँ 'तद्वत्सतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही' ऐसा पाठ है । वहाँ भी यही अर्थ है ॥ १४ ॥

योगसिद्ध या तत्त्वज्ञकी स्थिति

कथं ज्ञात्वा वीतशोको भवति ? इत्याह—

किस प्रकार जानकर जीव शोकरहित होता है ? सो श्रुति बतलाती है—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

जिस समय योगी दीपकके समान प्रकाशस्वरूप आत्मभावसे ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वोंसे विशुद्ध देवको जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥१५॥

यदेति । यदा यस्यामवस्थायामात्मतत्त्वेन स्वेनात्मना । किंविशिष्टेन ? दीपोपमेन दीपस्थानीयेन प्रकाशस्वरूपेण ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत् । तुशब्दोऽवधारणे । परमात्मानमात्मनैव जानीयादित्यर्थः । उक्तं च—"तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इति । कीदृशम् ? अन्यस्मादजायमानं ध्रुवमप्रच्युतस्वरूपं सर्वतत्त्वैरविद्यातत्कार्यैर्विशुद्धमसंस्पृष्टं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥१५॥

'यदा' इत्यादि । जिस समय अर्थात् जिस अवस्थामें आत्मतत्त्वसे—अपने आत्मस्वरूपसे, कैसे आत्मस्वरूपसे ? दीपोपम—दीपकस्थानीय अर्थात् प्रकाशस्वरूपसे ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है । यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । अतः तात्पर्य यह है कि परमात्माको आत्मभावसे ही जानना चाहिये । कहा भी है—"उसने आत्माको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ ।" कैसे ब्रह्मका साक्षात्कार करता है ?—जो किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं हुआ, ध्रुव अर्थात् अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता और सम्पूर्ण तत्त्वों यानी अविद्या और उसके कार्योंसे विशुद्ध—असंस्पृष्ट है; उस देवको जानकर जीव अविद्यादि समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है ॥१५॥

परमात्मस्वरूपका वर्णन

परमात्मानमात्मत्वेन विजानीयादित्युक्तं तदेव संभावयन्नाह—

परमात्माको आत्मभावसे जाने—यह कहा गया, अब उसीका सम्भावन (सम्मान) करते हुए मन्त्र कहता है—

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

यह देव ही सम्पूर्ण दिशा-विदिशा है, यही [हिरण्यगर्भरूपसे] पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भके अन्तर्गत है, यही उत्पन्न हुआ है और यही उत्पन्न होनेवाला है । यह समस्त जीवोंमें प्रतिष्ठित और सर्वतोमुख है ॥१६॥

एष हेति । एष एव देवः प्रदिशः प्राच्याद्या दिश उपदिशश्च सर्वाः पूर्वो ह जातः सर्वस्माद्धिरण्यगर्भात्मना, स उ गर्भेऽन्तर्वर्तमानः, स एव जातः शिशुः, स जनिष्यमाणोऽपि, स एव सर्वांश्च जनान्प्रत्यङ् तिष्ठति, सर्वप्राणिगतानि मुखान्यस्येति सर्वतोमुखः ॥१६॥

'एष ह' इत्यादि । यह देव ही प्रदिश अर्थात् पूर्वादि सम्पूर्ण दिशा और उपदिशाएँ है, यह हिरण्यगर्भरूपसे सबसे पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भके भीतर विद्यमान है, यही शिशुरूपसे उत्पन्न हुआ है, यही उत्पन्न होनेवाला भी है, यही समस्त जीवोंमें प्रत्यङ्—अन्तरात्मरूपसे स्थित है, समस्त प्राणियोंके मुख इसीके हैं, इसलिये यह सर्वतोमुख है ॥ १६ ॥

इदानीं योगवत्साधनान्तराणि नमस्कारादीनि कर्तव्यत्वेन दर्शयितुमाह—

अब योगके समान नमस्कारादि अन्य साधनोंको भी कर्त्तव्यरूपसे प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति कहती है—

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७॥

जो देव अग्निमें है, जो जलमें है और जिसने सम्पूर्ण भुवनको व्याप्त कर रखा है तथा जो ओषधि और वनस्पतियोंमें भी विद्यमान है उस देवको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ १७ ॥

यो देव इति । यो विश्वं भुवनं स्वेन विरचितं संसारमण्डलमाविवेश । य ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु तस्मै विश्वात्मने भुवनमूलाय परमेश्वराय नमो नमः । द्विर्वचनमादरार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थं च ॥ १७ ॥

'यो देवो' इत्यादि । जिसने सम्पूर्ण भुवनको अर्थात् स्वयं रचे हुए संसारमण्डलको व्याप्त कर रखा है, जो शालि आदि ओषधियोंमें और अश्वत्थादि वनस्पतियोंमें भी विद्यमान है उस विश्वात्मा—जगत्के मूल कारण परमेश्वरको नमस्कार है, नमस्कार है । 'नमः' शब्दकी द्विरुक्ति आदरके लिये और अध्यायकी समाप्तिके लिये है ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

एक ही परमात्मामें शासक और शासनीयभावका समर्थन

कथमद्वितीयस्य परमात्मन ईशित्रीशितव्यादिभावः ? इत्याशङ्क्याह—

अद्वितीय परमात्मामें शासक और शासनीय आदि भाव कैसे रह सकते हैं ?—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

जो एक जालवान् (मायावी) अपनी ईश्वरीय शक्तियोंसे शासन करता है, जो अकेला ही ऐश्वर्यसे योग होनेपर और जगत्के प्रादुर्भावके समय अपनी शक्तियोंसे सम्पूर्ण लोकोंका शासन करता है, उसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ १ ॥

य एक इति । य एकः परमात्मा स जालवान् जालं माया दुरत्ययत्वात् । तथा चाह भगवान्—"मम माया दुरत्यया" (गीता ७ । १४) इति । तद्वांस्तदस्यास्तीति जालवान्मायावी-

'य एको' इत्यादि । जो एक परमात्मा है वह जालवान् है । दुस्तर होनेके कारण जाल मायाका नाम है । भगवान्ने भी ऐसा ही कहा है कि "मेरी मायाको पार करना कठिन है ।" उस जालसे जो युक्त है वह [परमात्मा] जालवान् है । 'तत् अस्य अस्ति' (वह उसका है)* इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'जालवान्' शब्द सिद्ध होता है । जालवान्

---

* 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५ । २ । ९४) इस पाणिनिसूत्रसे यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय करके 'मादुपधायाश्च मतोर्वो…'(८।२।९)इस सूत्रसे 'म' का 'व' आदेश होता है।

त्यर्थः। ईशत ईष्टे मायोपाधिः सन्। कैः ? ईशनीभिः स्वशक्तिभिः। तथा चोक्तम्—ईशत ईशनीभिः परमशक्तिभिरिति। कान् ? सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। कदा ? उद्भवे विभूतियोगे सम्भवे प्रादुर्भावे च। य एतद्विदुरमृता अमरणधर्माणो भवन्ति ॥ १ ॥

अर्थात् मायावी परमेश्वर मायोपाधिक होकर शासन करता है। किनके द्वारा शासन करता है ? [इसके उत्तरमें कहते हैं--] 'ईशनीभिः' अपनी शक्तियोंके द्वारा। इसी आशयसे यहाँ ऐसा कहा है—'ईशते ईशनीभिः।' 'ईशनीभिः' अर्थात् अपनी परम शक्तियोंके द्वारा शासन करता है। किनका शासन करता है ? वह उन शक्तियोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंका शासन करता है। किस समय ? उद्भव—अर्थात् विभूतियों (ऐश्वर्यों) से योग होनेपर और सम्भव जगत्के प्रादुर्भावके समय। जो इसे जानते हैं वे अमृत—अमरणधर्मा (अमर) हो जाते हैं ॥ १ ॥

कस्मात्पुनर्जालवान् ? इत्याशङ्क्य आह--

किन्तु वह मायावी कैसे है ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

क्योंकि एक ही रुद्र है, इसलिये [ब्रह्मविद्गण] उससे भिन्न किसी अन्य वस्तुके लिये अपेक्षा नहीं करते। वह अपनी [ब्रह्मादि] शक्तियोंद्वारा इन लोकोंका शासन करता है, वह समस्त जीवोंके भीतर स्थित है,

और सम्पूर्ण लोकोंकी रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकालमें उन्हें संकुचित कर लेता है ॥ २ ॥

एको हीति । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मादेक एव रुद्रः स्वतो न द्वितीयाय वस्त्वन्तराय तस्थुर्ब्रह्मविदः परमार्थदर्शिनः । उक्तं च—एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरिति । य इमाल्लँोकानीशते नियमयतीशनीभिः । सर्वांश्च जनान्प्रत्यन्तरः प्रतिपुरुषमवस्थितः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यर्थः ।

'एको हि' इत्यादि । क्योंकि एक ही रुद्र है, अतः परमार्थदर्शी ब्रह्मविद्गण स्वतः किसी दूसरी वस्तुके लिये अपेक्षा नहीं करते । यहाँ 'हि' शब्द 'यस्मात्' (क्योंकि) के अर्थमें है । इसीसे कहा है 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः ।' जो अपनी शक्तियोंद्वारा इन लोकोंका शासन-नियमन करता है, वह समस्त जीवोंके भीतर अर्थात् प्रत्येक पुरुषमें स्थित है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है ।

किञ्च, संचुकोच अन्तकाले प्रलयकाले किं कृत्वा ? संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा गोप्ता भूत्वा । एतदुक्तं भवति—अद्वितीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवदात्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीयमुपादानकारणमुपादत्ते । किं तर्हि ? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन्स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयत इति । उत्तरो मन्त्रस्तस्यैव विराडात्मनावस्थानं

तथा वह अन्तकाल यानी प्रलयकालमें संकुचित करता है । क्या करके ? सम्पूर्ण लोकोंकी रचना कर उनका गोपा—रक्षक होकर । यहाँ यह कहा गया है कि परमात्मा अद्वितीय है, वह कुम्हारकी तरह मृत्पिण्डरूप अपने-आपको उपादान कारणरूपसे ग्रहण नहीं करता; तो फिर क्या करता है ? वह अपनी शक्तिको क्षुब्ध करनेसे ही जगत्का रचयिता या नियन्ता कहा जाता है । अगला मन्त्र उसीकी विराट्रूपसे स्थिति

तत्स्रष्टृत्वं प्रतिपादयति ॥ २ ॥ | और उसके जगत्कर्तृत्वका प्रतिपादन करता है ॥ २ ॥

परमेश्वरसे जगत्‌की सृष्टिका प्रतिपादन

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

वह सब ओर नेत्रोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर भुजाओंवाला और सब ओर पैरोंवाला है । वह एकमात्र देव (प्रकाशमय परमात्मा) द्युलोक और पृथ्वीकी रचना करता हुआ [वहाँके मनुष्य-पक्षी आदि प्राणियोंको] दो भुजाओं और पतत्रों (पैरों एवं पंखों) से युक्त करता है* ॥ ३ ॥

* इस मन्त्रके उत्तरार्द्धका अर्थ अन्यान्य टीकाकारोंने अनेक प्रकारसे किया है । प्रस्तुत अर्थ शाङ्करभाष्यके अनुसार है । शङ्करानन्दजी इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"हस्ताभ्यां विश्वमुत्पादयन्नुत्पत्तिकाले विविधाञ्शब्दानुत्पाद्योत्पादकादिरूपेण करोति । बाहुभ्यामिति द्विवचनसामर्थ्यात्सर्वकर्महेतुत्वाच्च धर्माधर्माभ्यामिति विवक्षितम् ।······यदापि धमतिरग्निसंयोगार्थस्तदापि सन्तापकारित्वेन सुखदुःखयोरुत्पत्तौ स्थितौ संहारे च सुखदुःखकारित्वं व्याख्येयम् । संपतत्रैः पतनशीलैः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैर्न परमाणुभिः······धमतीत्यनुषङ्गः ।" अर्थात् वह हाथोंसे विश्वको उत्पन्न कर उसकी उत्पत्तिके समय उत्पाद्य-उत्पादकादिरूपसे अनेक प्रकारके शब्द करता है । 'बाहुभ्याम्' इस पदमें द्विवचन है तथा हाथ समस्त कर्मोंके हेतु होते हैं, इसलिये इस पदसे 'धर्माधर्मके द्वारा' यह अर्थ बतलाना अभीष्ट है । जिस समय 'धमति' क्रियाका अर्थ अग्निसंयोग लिया जाय उस समय भी सन्तापकारक होनेके कारण सुख-दुःखकी उत्पत्ति-स्थिति और संहारमें उनका सुख-दुःखकारित्व ही बतलाना चाहिये । 'संपतत्रैः'—पतनशील पञ्चीकृत महाभूतोंसे युक्त करता है, परमाणुओंसे नहीं । नारायणतीर्थ लिखते हैं—"बाहुभ्यां विद्याकर्मभ्यां संधमति पतत्रैः वासनारूपैः संधमति दीपयति जीवनिष्ठविद्याकर्मवासनादिभिरीश्वरो जगत्प्रव-

विश्वतश्चक्षुरिति । सर्वप्राणिगतानि चक्षूंष्यस्येति विश्वतश्चक्षुः । अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र चक्षू रूपादौ सामर्थ्यं विद्यत इति विश्वतश्चक्षुः । एवमुत्तरत्र योजनीयम् । सं बाहुभ्यां धमति संयोजयतीत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । पक्षिणश्च धमति द्विपदो मनुष्यादींश्च पतत्रैः । किं कुर्वन् ? द्यावापृथिवी जनयन्देव एको विराजं सृष्टवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

'विश्वतश्चक्षुरुत' इत्यादि । समस्त प्राणियोंके चक्षु इस परमात्माके ही हैं, इसलिये यह विश्वतश्चक्षु है । अतः अपनी इच्छामात्रसे ही इसमें सर्वत्र चक्षु यानी रूपादिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य है । इसी प्रकार आगे [विश्वतोमुखः आदि] में भी अर्थयोजना कर लेनी चाहिये । वह दो भुजाओंद्वारा संयुक्त करता है; धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं [इसीसे अग्निसंयोगके अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले 'धमति' का अर्थ संयोजन लिया गया है] । तथा पक्षियों और दो पैरोंवाले मनुष्यादिको पतत्रों (पंखों और पैरों) से युक्त करता है । क्या करता हुआ ? द्युलोक और पृथिवीकी सृष्टि करता हुआ । तात्पर्य यह है कि उस एकमात्र देवने विराट्की रचना की ॥ ३ ॥

र्तयतीत्यर्थः ।" अर्थात् बाहु—विद्या और कर्मद्वारा तथा पतत्र—वासनाओंद्वारा संधमति—दीप्त करता है; अर्थात् जीवनिष्ठ विद्या और कर्मादिके द्वारा ईश्वर जगत्को प्रवृत्त करता है । विज्ञानभगवान् कहते हैं—"बाहुभ्यां मनुष्यादीन्संधमति संयोजयति" "पतत्रैः पतनसाधनैः पादैः संधमति" "अथवा पतत्रैः पक्षैः पक्षिणः संधमति ।" अर्थात् वह मनुष्यादिको भुजाओंसे युक्त करता है और पतत्र—चलनेके साधन यानी पैरोंसे युक्त करता है । अथवा पतत्र यानी पक्षोंसे पक्षियोंको युक्त करता है ।

१. 'पतत्र' शब्दका अर्थ है पतनसे बचानेवाला । अतः मनुष्योंके विषयमें इसका अर्थ पैर समझना चाहिये और पक्षियोंके विषयमें पङ्ख ।

परमेश्वरका स्तवन

इदानीं तस्यैव सूत्रसृष्टिं प्रतिपादयन्मन्त्रदृगभिप्रेतं प्रार्थयते—

अब उसी परमात्माकी हिरण्यगर्भ-सृष्टिका प्रतिपादन करती हुई श्रुति मन्त्रदर्शी ऋषियोंके अभिमत अर्थके लिये प्रार्थना करती है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

जो रुद्र देवताओंकी उत्पत्ति तथा ऐश्वर्यप्राप्तिका हेतु, जगत्पति और सर्वज्ञ है तथा जिसने पहले हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था वह हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ ४ ॥

यो देवानामिति । यो देवानामिन्द्रादीनां प्रभवहेतुरुद्भवहेतुश्च । उद्भवो विभूतियोगः । विश्वस्याधिपो विश्वाधिपः पालयिता । महर्षिः—महांश्चासावृषिश्चेति महर्षिः सर्वज्ञ इत्यर्थः । हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भोऽन्तःसारो यस्य तं जनयामास पूर्वं सर्गादौ । स नोऽस्मान् बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु परमपदं प्राप्नुयामेति ॥ ४ ॥

'यो देवानाम्' इत्यादि । जो देवताओंकी अर्थात् इन्द्रादिकी उत्पत्तिका और उद्भवका हेतु है । उद्भव विभूतियोगको कहते हैं । जो विश्वाधिप—विश्वका स्वामी अर्थात् पालन करनेवाला है, महर्षि—महान् ऋषि यानी सर्वज्ञ है, हित—रमणीय अर्थात् अत्यन्त उज्ज्वल ज्ञान जिसका गर्भ—अन्तःसार है उस [हिरण्यगर्भ] की जिसने पहले—सृष्टिके आरम्भमें रचना की थी वह हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे; अर्थात् हम परमपद प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयन्नभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

फिर भी [आगेके] दो मन्त्रोंसे उसके स्वरूपको प्रदर्शित करती हुई श्रुति अभिप्रेत अर्थके लिये प्रार्थना करती है—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥

हे रुद्र ! तुम्हारी जो मङ्गलमयी, शान्त और पुण्यप्रकाशिनी मूर्ति है, हे गिरिशन्त ! उस पूर्णानन्दमयी मूर्तिके द्वारा तुम [हमारी ओर] देखो ॥ ५ ॥

या ते रुद्रेति । हे रुद्र तव या शिवा तनूरघोरा । उक्तं च "तस्यैते तनुवौ घोरान्या शिवान्या" इति । अथवा शिवा शुद्धाविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्ता सच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपा न तु घोरा शशिबिम्बमिवाह्लादिनी । अपापकाशिनी स्मृतिमात्राघनाशिनी पुण्याभिव्यक्तिकरी । तयात्मना नोऽस्माञ्शन्तमया सुखतमया पूर्णानन्दरूपया हे गिरिशन्त गिरौ स्थित्वा शं सुखं तनोतीति । अभिचाकशीहि

'या ते रुद्र' इत्यादि । हे रुद्र ! तुम्हारी जो मङ्गलमयी अघोरा (शान्त) मूर्ति है । अन्यत्र ऐसा ही कहा भी है—"उसकी ये दो आकृतियाँ हैं, एक घोरा है और दूसरी मङ्गलमयी"। अथवा [तुम्हारी जो मूर्ति] शिवा—शुद्धा यानी अविद्या और उसके कार्योंसे रहित सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपा है, घोरा नहीं है, अपि तु चन्द्रमण्डलके समान आह्लादकारिणी है; तथा अपापकाशिनी—स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश करनेवाली अर्थात् पुण्यकी अभिव्यक्ति करनेवाली है, अपनी उस शन्तम—सुखतम—पूर्णानन्दस्वरूप मूर्ति (देह)से हे गिरिशन्त ! —गिरिमें रहकर शं—सुखका विस्तार करनेवाले ! हमें देखो—हमारी ओर

अभिपश्य निरीक्षस्व श्रेयसा नियोजयस्वेत्यर्थः ॥ ५ ॥

दृष्टिपात करो अर्थात् हमें कल्याण-पथसे युक्त करो ॥ ५ ॥

किञ्च—

तथा—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳ सीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥

हे गिरिशन्त ! जीवोंकी ओर फेंकनेके लिये तुम अपने हाथमें जो बाण धारण किये रहते हो, हे गिरित्र ! उसे मङ्गलमय करो, किसी जीव या जगत्‌की हिंसा मत करो ॥ ६ ॥

यामिषुमिति । यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्षि धारयस्यस्तवे जने क्षेप्तुं शिवां गिरित्र गिरिं त्रायत इति तां कुरु । मा हिंसीः पुरुषमस्मदीयं जगदपि कृत्स्नम् । साकारं ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेतमर्थं प्रार्थितवान् ॥ ६ ॥

'यामिषुम्' इत्यादि । हे गिरिशन्त ! तुम जीवोंकी ओर छोड़नेके लिये जो बाण धारण किये रहते हो, हे गिरित्र !—पर्वतकी रक्षा करनेके कारण भगवान् गिरित्र हैं—उसे शिव (मङ्गलमय) करो । हमारे किसी पुरुषकी और सारे जगत्‌की भी हिंसा मत करो ! यहाँ इस अभिप्रेत अर्थकी प्रार्थना की है कि हमें सम्पूर्ण साकार ब्रह्मके दर्शन कराओ ॥ ६ ॥

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति

इदानीं तस्यैव कारणात्मनावस्थानं दर्शयञ्ज्ञानादमृतत्वमाह—

अब उस परमात्माकी ही जगत्‌के कारणरूपसे स्थिति दिखलाती हुई श्रुति ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति दिखलाती है—

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-
मीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

उस [पुरुषयुक्त जगत्] से परे जो ब्रह्म—हिरण्यगर्भसे उत्कृष्ट एवं महान् है, जो समस्त प्राणियोंमें उनके शरीरके अनुसार (परिच्छिन्नरूपसे) छिपा हुआ है तथा विश्वका एकमात्र परिवेष्टा है उस परमेश्वरको जानकर जीवगण अमर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ततः परमिति । ततः पुरुषयुक्ताज्जगतः परं कारणत्वात्कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य व्यापकमित्यर्थः । अथवा ततो जगदात्मनो विराजः परम् । किं तद्ब्रह्मपरं बृहन्तं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परं बृहन्तं महद्व्यापित्वात् । यथानिकायं यथाशरीरं सर्वभूतेषु गूढमन्तरवस्थितं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं सर्वमन्तः कृत्वा स्वात्मना सर्वं व्याप्यावस्थितमीशं परमेश्वरं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

'ततः परम्' इत्यादि । जो उससे यानी पुरुषयुक्त जगत्से परे है अर्थात् कारण होनेसे अपने कार्यभूत जगत्में व्यापक है, अथवा जो उससे—जगद्रूप विराट्से परे है, वह क्या है ? इसके उत्तरमें श्रुति कहती है—ब्रह्मपरं बृहन्तम् । जो ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भरूप कार्यब्रह्मसे पर और व्यापक होनेके कारण बृहत्—महान् है । तथा जो समस्त प्राणियोंमें यथानिकाय—उनके शरीरके अनुसार गूढ—अन्तःस्थित है, एवं विश्वका एकमात्र परिवेष्टा है अर्थात् सबको अपने भीतर करके—अपने स्वरूपसे सबको व्याप्त करके स्थित है, उस ईश—परमेश्वरको जानकर जीव अमर हो जाते हैं ॥७॥

परमेश्वरके विषयमें ज्ञानीजनोंके अनुभवका प्रदर्शन

इदानीमुक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रद्रगनुभवं दर्शयित्वा पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मपरिज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति—

अब उपर्युक्त अर्थको पुष्ट करनेके लिये मन्त्रद्रष्टा ऋषिका अनुभव दिखलाती हुई श्रुति यह प्रदर्शित करती है कि पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मका आत्मस्वरूपसे ज्ञान होनेपर ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, अन्य किसी उपायसे नहीं——

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरुषको जानता हूँ। उसे ही जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है, इसके सिवा परमपदप्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है ॥ ८ ॥

वेदाहमेतमिति । वेद जाने तमेतं परमात्मानम् । अथैतं प्रत्यगात्मानं साक्षिणं पुरुषं पूर्णं महान्तं सर्वात्मत्वात् । आदित्यवर्णं प्रकाशरूपं तमसोऽज्ञानात् परस्तात्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति मृत्युमत्येति । कस्मात् ? अस्मान्नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय परमपदप्राप्तये ॥ ८ ॥

'वेदाहमेतम्' इत्यादि । मैं उस परमात्माको जानता हूँ । यह जो प्रत्यगात्मा—साक्षी, पुरुष—पूर्ण और सर्वरूप होनेसे महान् तथा आदित्यवर्ण—प्रकाशस्वरूप एवं तम यानी अज्ञानसे अतीत है इसे जानकर जीव मृत्युको पार कर लेता है; कैसे कर लेता है ? क्योंकि परमपदप्राप्तिके लिये उससे भिन्न कोई और मार्ग नहीं है ॥ ८ ॥

कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति ? इत्युच्यते—

किन्तु जीव उसीको जानकर मृत्युको कैसे पार कर लेता है ? सो बतलाया जाता है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चि-
द्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है तथा जिससे छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमामें वृक्षके समान निश्चलभावसे स्थित है, उस पुरुषने ही इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है ॥ ९ ॥

यस्मादिति । यस्मात्परं पुरुषात्परमुत्कृष्टमपरमन्यन्नास्ति, यस्मान्नाणीयोऽणुतरं न ज्यायो महत्तरं वास्ति । वृक्ष इव स्तब्धो निश्चलो दिवि द्योतनात्मनि स्वे महिम्नि तिष्ठत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तेनाद्वितीयेन परमात्मनेदं सर्वं पूर्णं नैरन्तर्येण व्याप्तं पुरुषेण पूर्णेन ॥ ९ ॥

'यस्मात्' इत्यादि । जिस पुरुषसे उत्कृष्ट अन्य कोई नहीं है, तथा जिससे अणीयस्—न्यूनतर और ज्यायस्—महत्तर भी कोई नहीं है वह अद्वितीय परमात्मा दिवि अर्थात् अपनी द्योतनात्मक महिमामें वृक्षके समान स्तब्ध—निश्चलभावसे स्थित है । उस अद्वितीय परमात्मा पूर्ण पुरुषने इस सबको पूर्ण—निरन्तरतासे व्याप्त कर रखा है ॥ ९ ॥

इदानीं ब्रह्मणः पूर्वोक्तकार्यकारणतां दर्शयञ्ज्ञानिनाममृतत्वमितरेषां च संसारित्वं दर्शयति—

अब पहले बतलायी हुई ब्रह्मकी कार्य-कारणता दिखलाकर श्रुति ज्ञानियोंको अमृतत्व और अन्य सबको संसारित्वकी प्राप्ति प्रदर्शित करती है—

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुर-
मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

उस (कारण-ब्रह्म) से जो उत्कृष्टतर है वह अरूप और अनामय है । उसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, तथा अन्य दुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तत इति। तत इदंशब्दवाच्याज्जगत उत्तरं कारणं ततोऽप्युत्तरं कार्यकारणविनिर्मुक्तं ब्रह्मैव इत्यर्थः। तदरूपं रूपादिरहितम्, अनामयमाध्यात्मिकादितापत्रयरहितत्वात्। य एतद्विदुरमृतत्वेन अहमस्मीत्यमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति। अथेतरे ये न विदुस्ते दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

'ततः' इत्यादि । उससे अर्थात् इदंशब्दवाच्य जगत्से उत्कृष्ट तो उसका कारण है और उससे भी उत्कृष्टतर कार्य-कारणभावशून्य ब्रह्म ही है । वह अरूप—रूपादि-रहित और आध्यात्मिकादि त्रिविध तापोंसे रहित होनेके कारण अनामय (दुःखहीन) है । जो इसे जानते हैं अर्थात् अपने अमृतस्वरूपसे 'मैं यही हूँ' ऐसा अनुभव करते हैं वे अमृत—अमरणधर्मा हो जाते हैं । और अन्य जो ऐसा नहीं जानते वे दुःखको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

इदानीं तस्यैव सर्वात्मत्वं दर्शयति—

अब श्रुति उसीकी सर्वात्मकता दिखलाती है—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

वह भगवान् समस्त मुखोंवाला, समस्त शिरोंवाला और समस्त ग्रीवाओंवाला है, वह सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें स्थित और सर्वव्यापी है; इसलिये सर्वगत और मङ्गलरूप है ॥ ११ ॥

सर्वाननेति । सर्वाण्याननानि शिरांसि ग्रीवाश्चास्येति सर्वाननशिरोग्रीवः । सर्वेषां भूतानां गुहायां बुद्धौ शेत इति सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी स भगवानैश्वर्यादिसमष्टिः । उक्तं च—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य
धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव
षण्णां भग इतीरणा ॥"
(वि० पु० ६ । ५ । ७४)

भगवति यस्मादेवं तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

'सर्वानन' इत्यादि । समस्त मुख, शिर और ग्रीवाएँ इसीकी हैं, इसलिये यह सर्वाननशिरोग्रीव है । यह समस्त प्राणियोंकी गुहा—बुद्धिमें शयन करता है इसलिये सर्वभूतगुहाशय है । वह सर्वव्यापी और भगवान्—ऐश्वर्यादिकी समष्टिरूप है । कहा भी है—"समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छःका नाम भग है ।" भगवान्‌में ये सब ऐसे ही हैं इसलिये वह सर्वगत और शिव (मङ्गलरूप) है ॥ ११ ॥

किञ्च—

तथा—

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

यह महान्, परमसमर्थ, शरीररूप पुरमें शयन करनेवाला, इस [स्वरूपस्थितिरूप] निर्मल प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरणको प्रेरित करनेवाला, सबका शासक, प्रकाशस्वरूप और अविनाशी है ॥ १२ ॥

महानिति । महान्प्रभुः समर्थो वै निश्चयेन जगदुदयस्थितिसंहारे सत्त्वस्यान्तःकरणस्यैष प्रवर्तकः प्रेरयिता । कमर्थमुद्दिश्य ? सुनिर्म-

'महान्' इत्यादि । वह महान्, प्रभु अर्थात् जगत्‌के उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें निश्चय ही समर्थ और सत्त्व यानी अन्तःकरणका प्रेरक है । किस प्रयोजनके उद्देश्यसे उसका

लाभिमां स्वरूपावस्थालक्षणां प्राप्तिं परमपदप्राप्तिम् । ईशान ईशिता । ज्योतिः परिशुद्धो विज्ञानप्रकाशः । अव्ययोऽविनाशी ॥ १२ ॥

प्रवर्तक है ?—इस स्वरूपावस्थितिरूप सुनिर्मल प्राप्ति यानी परमपदकी प्राप्तिके उद्देश्यसे । तथा वह ईशान—शासक, ज्योतिः—विशुद्धविज्ञानप्रकाशस्वरूप और अव्यय—अविनाशी है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र, पुरुष, अन्तरात्मा, सर्वदा जीवोंके हृदयमें स्थित, ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मनके द्वारा सुरक्षित है । जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्र इति । अङ्गुष्ठमात्रोऽभिव्यक्तिस्थानहृदयसुषिरपरिमाणापेक्षया पुरुषः पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा । अन्तरात्मा सर्वस्यान्तरात्मभूतः स्थितः । सदा जनानां हृदये संनिविष्टो हृदयस्थेन मनसाभिगुप्तः । मन्वीशो ज्ञानेशः । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यादि । अपनी अभिव्यक्तिके स्थान हृदयाकाशके परिमाणकी अपेक्षासे यह अङ्गुष्ठमात्र है, पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है, अन्तरात्मा अर्थात् सबके अन्तरात्मस्वरूपसे स्थित है । सर्वदा जीवोंके हृदयमें स्थित है, हृदयस्थित मनके द्वारा सुरक्षित है और मन्वीश—ज्ञानाध्यक्ष है । जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ १३ ॥

परमेश्वरके सर्वात्मभाव या विराट्-स्वरूपका वर्णन

पुरुषोऽन्तरात्मेत्युक्तं पुनरपि सर्वात्मानं दर्शयति—सर्वस्य तावन्मात्रत्वप्रदर्शनार्थम् । उक्तं च—"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" इति ।

वह परमेश्वर पुरुष एवं अन्तरात्मा है— यह कहा गया, अब सबकी तद्रूपता प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति फिर भी उसका सर्वात्मभाव दिखलाती है । कहा भी है—"अध्यारोप और अपवादके[1] द्वारा निष्प्रपञ्चको प्रपञ्चित किया जाता है" इत्यादि ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४॥

वह सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणोंवाला है तथा पूर्ण है । वह भूमिको सब ओरसे व्याप्त कर अनन्तरूपसे उसका अतिक्रमण करके स्थित है । [अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये कि नाभिसे ऊपर दश अङ्गुल परिमाणवाले हृदयमें स्थित है] ॥ १४ ॥

सहस्राण्यनन्तानि शीर्षाण्यस्येति सहस्रशीर्षा । पुरुषः पूर्णः । एवमुत्तरत्र योजनीयम् । स भूमिं

इसके सहस्र अर्थात् अनन्त शिर हैं इसलिये यह सहस्रशिरवाला है । पुरुष अर्थात् पूर्ण है इसी प्रकार आगेके विशेषणोंका भी अर्थ कर लेना

१. अध्यारोप और अपवाद ये वेदान्तके पारिभाषिक शब्द हैं । किसी सत्य वस्तुमें असत्य पदार्थका भ्रम होना अध्यारोप है, जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति; तथा उस असत्य पदार्थके बाधपूर्वक परमार्थ-सत्यको प्रदर्शित कराना अपवाद है, जैसे कल्पित सर्पके निराकरणद्वारा उसकी अधिष्ठानभूता रज्जुका भान । इसी प्रकार निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें मायाका आरोप करके प्रपञ्चप्रतीतिकी व्यवस्था की जाती है और प्रपञ्चके अपवादद्वारा शुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार कराया जाता है । परन्तु वस्तुतः ये दोनों प्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं, अखण्ड चिन्मात्र शुद्ध ब्रह्ममें तो किसी भी प्रकारके अध्यारोप या अपवादका अवकाश ही नहीं है । इस प्रकार अध्यारोप और अपवादके द्वारा उस निर्विशेषका सविशेषरूपसे वर्णन किया जाता है ।

भुवनं सर्वतोऽन्तर्बहिश्च वृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठदतीत्य भुवनं समधितिष्ठति । दशाङ्गुलमनन्तमपारमित्यर्थः । अथवा नाभेरुपरि दशाङ्गुलं हृदयं तत्राधितिष्ठति ॥१४॥

चाहिये।* वह भूमि अर्थात् संसारको सर्वतः—बाहर और भीतरसे व्याप्त करके संसारका भी अतिक्रमण करके स्थित है । दशाङ्गुल अर्थात् अनन्त—अपार रूपसे । अथवा नाभिसे ऊपर जो दश अङ्गुल परिमाणवाला हृदय है उसमें स्थित है ॥ १४ ॥

ननु सर्वात्मत्वे सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यात्तद्व्यतिरेकेणाभावादित्याह—

किन्तु सर्वात्मक होनेपर तो ब्रह्म सप्रपञ्च (सविशेष) सिद्ध होगा, क्योंकि उससे अतिरिक्त प्रपञ्चकी सत्ता ही नहीं है, इसपर श्रुति कहती है—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

जो कुछ भूत और भविष्यत् है एवं जो अन्नके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है वह सब पुरुष ही है; तथा वही अमृतत्व (मुक्ति) का भी प्रभु है ॥ १५ ॥

पुरुष एवेदमिति । पुरुष एवेदं सर्वं यदन्नेनातिरोहति यदिदं दृश्यते वर्तमानं यद्भूतं यच्च भव्यं भविष्यत् । किञ्च—उतामृतत्व-

'पुरुष एवेदम्' इत्यादि । यह जो अन्नसे बढ़ता है तथा यह जो वर्तमान दिखायी देता है तथा जो कुछ भूत और भविष्यत् है वह सब पुरुष ही है । इसके सिवा, वह अमृतत्वका ईशान है अर्थात् अमरण-

* अर्थात् सहस्र यानी अनन्त अक्षि (नेत्र) और पाद (चरण) होनेके कारण वह सहस्राक्ष और सहस्रपाद है ।

स्येशानोऽमरणधर्मत्वस्य कैवल्यस्येशानः । यच्चान्नेनातिरोहति यद्वर्तते तस्येशानः ॥ १५ ॥

धर्मत्व यानी कैवल्यपदका भी प्रभु है । तथा जो अन्नसे बढ़ता है, जो विद्यमान है उसका यह स्वामी है ॥ १५ ॥

पुनरपि निर्विशेषं प्रतिपादयितुं दर्शयति--

फिर भी उसको निर्विशेष प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति दिखलाती है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

उसके सब ओर हाथ-पाँव हैं, सब ओर आँख, शिर और मुख हैं तथा वह सर्वत्र कर्णोंवाला है एवं लोकमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १६ ॥

सर्वत इति । सर्वतः पाणयः पादाश्चेति सर्वतःपाणिपादं तत् । सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिः श्रवणमस्येति श्रुतिमत् । लोके प्राणिनिकाये सर्वमावृत्य संव्याप्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

'सर्वतः' इत्यादि । उसके सब ओर हाथ-पाँव हैं इसलिये वह सर्वतःपाणिपाद है, तथा सब ओर आँख, शिर और मुख हैं इसलिये सर्वतोऽक्षिशिरोमुख है । उसके सब ओर श्रुति—कर्ण हैं इसलिये वह सर्वतः श्रुतिमान् है । तथा यह लोकमें अर्थात् प्राणिसमूहमें सबको आवृत—व्याप्त करके स्थित है ॥ १६ ॥

आत्माके देहावस्थान और इन्द्रिय-सम्बन्धराहित्यका निरूपण

उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाज्ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूदित्येवमर्थमुत्तरतो मन्त्रः—

उपाधिभूत पाणिपादादिके अध्यारोपसे ऐसी आशङ्का न हो जाय कि ज्ञेय (ब्रह्म) उनसे युक्त है इसी प्रयोजनसे आगेका मन्त्र है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७॥

वह समस्त इन्द्रियवृत्तियोंके रूपमें अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियोंसे रहित है, तथा सबका प्रभु, शासक और सबका आश्रय एवं कारण है ॥ १७॥

सर्वेन्द्रियेति । सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्तःकरणपर्यन्तानि सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते । अन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतः सर्वेन्द्रियगुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणादिभिर्गुणवदाभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । सर्वेन्द्रियैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयमित्यर्थः । "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति श्रुतेः । कस्मात्पुनः कारणात्तद्व्यापृतमिवेति गृह्यते? इत्याह— 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' सर्वकरणरहितमित्यर्थः । अतो न च करणव्यापारैर्व्यापृतं तज्ज्ञेयम् ।

'सर्वेन्द्रिय०' इत्यादि । श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे लेकर अन्तःकरणपर्यन्त जो समस्त इन्द्रियाँ हैं वे सर्वेन्द्रिय-पदके ग्रहणसे गृहीत होती हैं। अन्तःकरण और बाह्य करण जिसकी उपाधि हैं वह परमात्मा उन समस्त इन्द्रियोंके अध्यवसाय, संकल्प एवं श्रवणादि गुणोंसे गुणवान्-सा भासता है। इसलिये वह सर्वेन्द्रियगुणाभास है। तात्पर्य यह है कि उसे समस्त इन्द्रियसे व्यापारयुक्त-सा जानना चाहिये; जैसा कि "ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा" इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है। किन्तु वह किस कारणसे व्यापारयुक्त-सा ग्रहण किया जाता है [वास्तवमें व्यापार करता है—ऐसा क्यों नहीं माना जाता ?] इसपर श्रुति कहती है—'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' अर्थात् वह समस्त इन्द्रियोंसे रहित है। अतः उसे इन्द्रियोंके व्यापारोंसे व्यापारवान् नहीं जानना चाहिये।

सर्वस्य जगतः प्रभुमीशानम् । सर्वस्य शरणं परायणं बृहत्कारणं च ॥ १७ ॥	वह समस्त जगत्‌का प्रभु और शासक है तथा सबका शरण—आश्रय और बृहत्-कारण है ॥ १७ ॥

किञ्च—	तथा—

नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्‌का स्वामी यह हंस (परमात्मा) देहाभिमानी होकर नव द्वारवाले [देहरूप] पुरमें बाह्य विषयोंको ग्रहण करनेके लिये चेष्टा किया करता है ॥ १८ ॥

नवद्वार इति । नवद्वारे शिरसि सप्तद्वाराणि द्वे अवाची पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकरणोपाधिः सन्हंसः परमात्मा हन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति, लेलायते चलति बहिर्विषयग्रहणाय । वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥	'नवद्वारे' इत्यादि । [दो आँख, दो नाक, दो कान और एक मुख—इन] सात शिरके और [गुदा एवं लिङ्ग] दो निम्न-भागके इस प्रकार नौ द्वारोंवाले शरीरमें देही—विज्ञानात्मा यानी भूत और इन्द्रियरूप उपाधिवाला होकर यह हंस—परमात्मा बाह्य विषयोंको ग्रहण करनेके लिये चेष्टा करता—चलता है । यह अविद्याजनित कार्यका हनन करता है इसलिये हंस है । तथा यह स्थावर-जंगम समस्त लोकका वशी (स्वामी) है ॥ १८ ॥

ब्रह्मका निर्विशेष रूप

एवं तावत्सर्वात्मकं ब्रह्म प्रतिपादितम् । इदानीं निर्विकारानन्दस्वरूपेणानुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं परमात्मानं दर्शयितुमाह—

इस प्रकार यहाँतक ब्रह्मका सर्वात्मभावसे प्रतिपादन किया गया; अब अपने निर्विकार चिदानन्दस्वरूपसे तथा कभी उदित एवं अस्त न होनेवाले ज्ञानस्वरूपसे स्थित परमात्माको प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति कहती है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १९ ॥

वह हाथ-पाँवसे रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है । वह सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानता है, किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं है । उसे [ऋषियोंने] सबका आदि, पूर्ण एवं महान् कहा है ॥१९॥

अपाणिपाद इति । नास्य पाणिपादावित्यपाणिपादः । जवनो दूरगामी । ग्रहीता पाण्यभावेऽपि सर्वग्राही । पश्यति सर्वमचक्षुरपि सन् । शृणोत्यकर्णोऽपि । स वेत्ति वेद्यं सर्वज्ञत्वादमनस्कोऽपि । न च तस्यास्ति वेत्ता "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"

'अपाणिपादः' इत्यादि । इसके पाणि और पाद नहीं हैं, इसलिये यह अपाणिपाद है । [पैर न होनेपर भी] जवन—दूरगामी है और ग्रहीता—हाथ न होनेपर भी सबको ग्रहण करनेवाला है । यह नेत्रहीन होनेपर भी सबको देखता है, कर्णहीन होनेपर भी सुनता है और अमनस्क होनेपर भी सर्वज्ञ होनेके कारण वेद्यवर्गको जानता है । किन्तु कोई उसे जाननेवाला नहीं है, जैसा कि "इससे भिन्न

(बृ० उ० ३ । ७ । २३) इति श्रुतेः । तमाहुरग्र्यं प्रथमं सर्वकारणत्वात्पुरुषं पूर्णं महान्तम् ॥१९॥

कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । उसे [ऋषियोंने] सबका कारण होनेसे अग्र्य-प्रथम और पुरुष-पूर्ण एवं महान् कहा है ॥१९॥

आत्मज्ञानसे शोकनिवृत्तिका निरूपण

किञ्च—

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

यह अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् आत्मा इस जीवके अन्तःकरणमें स्थित है । उस विषयभोगसंकल्पशून्य महिमामय आत्माको जो विधाताकी कृपासे ईश्वररूपसे देखता है वह शोकरहित हो जाता है ॥ २० ॥

अणोरणीयानिति । अणोः सूक्ष्मादप्यणीयानणुतरः । महतो महत्त्वपरिमाणान्महीयान्महत्तरः । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानमक्रतुं विषयभोगसङ्कल्परहितमात्मनो

'अणोरणीयान्' इत्यादि । अणु अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, महत्-[आकाशादि] महत्त्वयुक्त परिमाणोंसे भी महत्तर—ऐसा जो आत्मा है वह इस जीवके अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियोंके गुहा--हृदयमें निहित है; अर्थात् उनका स्वरूपभूत होकर स्थित है । जो पुरुष अक्रतु—विषयभोगके संकल्पसे रहित, अपने ही

महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितमीशं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाज्जानाति यः स वीतशोको भवति । केन तद्यसौ पश्यति ? धातुरीश्वरस्य प्रसादात् । प्रसन्ने हि परमेश्वरे तद्याथात्म्यज्ञानमुत्पद्यते । अथवेन्द्रियाणि धातवः शरीरस्य धारणात्तेषां प्रसादाद्विषयदोषदर्शनमलाद्यपनयनात् । अन्यथा दुर्विज्ञेय आत्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः ॥ २० ॥

महिमान्वित स्वरूप और कर्मके कारण होनेवाले वृद्धि एवं क्षयसे रहित ईश्वररूप उस आत्माको देखता है; अर्थात् 'यही मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् जानता है, वह शोकरहित हो जाता है। किन्तु यह देखता किसकी सहायतासे है ? [इसपर कहते हैं--] विधाता यानी ईश्वरकी कृपासे, क्योंकि ईश्वरके प्रसन्न होनेपर ही उसके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है । अथवा[1] शरीरको धारण करनेके कारण इन्द्रियाँ ही धातु हैं, उनके प्रसाद यानी विषयोंमें दोषदर्शनके द्वारा मलादिकी निवृत्ति होनेपर उसे देखता है, अन्यथा सकाम प्राकृत पुरुषोंके लिये तो आत्मा दुर्विज्ञेय ही है ॥ २० ॥

आत्मस्वरूपके विषयमें ब्रह्मवेत्ताका अनुभव

उक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रदृगनुभवं दर्शयति--

उपर्युक्त अर्थको पुष्ट करनेके लिये श्रुति मन्त्रद्रष्टाका अनुभव दिखाती है—

वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

---

१. अथवासे लेकर जो व्याख्या है वह मूलमें 'धातुप्रसादात्' पाठ मानकर की गयी है ।

ब्रह्मवेत्तालोग जिसके जन्मका अभाव बतलाते हैं और जिसे नित्य कहते हैं, उस जराशून्य पुरातन सर्वात्माको, जो विभु होनेके कारण सर्वगत है, मैं जानता हूँ ॥ २१ ॥

वेदाहमेतमिति । वेद जानेऽहमेतमजरं विपरिणामधर्मवर्जितं पुराणं पुरातनं सर्वात्मानं सर्वेषामात्मभूतं सर्वगतं विभुत्वादाकाशवद्व्यापकत्वात् । यस्य च जन्मनिरोधमुत्पत्त्यभावं प्रवदन्ति ब्रह्मवादिनो हि नित्यम् । स्पष्टोऽर्थः ॥ २१ ॥

'वेदाहमेतम्' इत्यादि । इस अजर अर्थात् विपरिणामधर्मशून्य और पुराण—पुरातन सर्वात्माको सबके स्वरूपभूतको, जो विभु—आकाशके समान व्यापक होनेके कारण सर्वगत है तथा ब्रह्मवेत्तालोग जिसके जन्मका अभाव नित्य बतलाते हैं, मैं जानता हूँ। शेष अर्थ स्पष्ट है ॥ २१ ॥*

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

* श्रीशङ्करानन्दजीने इस मन्त्रके उत्तरार्धकी व्याख्या इस प्रकार की है—"जन्म च निरोधश्च जन्मनिरोधमुत्पत्तिनाशावित्यर्थः प्रवदन्ति प्रकर्षेण कथयन्ति मूढा इति शेषः, यस्य आत्मनः ..... ब्रह्मवादिनः उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारा हि प्रसिद्धाः प्रवदन्ति प्रकर्षेण कथयन्ति नित्यम् ।" अर्थात् "जन्म और निरोधका नाम जन्मनिरोध है यानी उत्पत्ति और नाश—इन्हें मूढलोग जिस आत्माके बतलाते हैं और जिसे ब्रह्मवादीलोग —जिन्हें तत्त्वसाक्षात्कार हो गया है नित्य प्रतिपादन करते हैं ।" भाष्यकी अपेक्षा यह अर्थ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि भाष्यके अनुसार अर्थ करनेसे यहाँ 'प्रवदन्ति' क्रियाका दूसरी बार प्रयोग होनेका कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता ।

चतुर्थ अध्याय

परमेश्वरसे सद्बुद्धिके लिये प्रार्थना

गहनत्वादस्यार्थस्य भूयो भूयो वक्तव्य इति चतुर्थोऽध्याय आरभ्यते—	[प्रस्तुत] विषय गम्भीर होनेके कारण इसका पुनः-पुनः निरूपण करना आवश्यक है, इसलिये अब चतुर्थ अध्याय आरम्भ किया जाता है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

सृष्टिके आरम्भमें जो एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्तिके द्वारा बिना किसी प्रयोजनके ही नाना प्रकारके अनेकों वर्ण (विशेष रूप) धारण करता है तथा अन्तमें भी जिसमें विश्व लीन हो जाता है वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ १ ॥

य एक इति । य एकोऽद्वितीयः परमात्मावर्णो जात्यादिरहितो निर्विशेष इत्यर्थः । बहुधा नानाशक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थोऽगृहीतप्रयोजनः स्वार्थनिरपेक्ष इत्यर्थः । दधाति विदधा-	'य एको' इत्यादि । जो परमात्मा सृष्टिके आरम्भमें एक—अद्वितीय और अवर्ण—जाति आदिसे रहित अर्थात् निर्विशेष होनेपर भी शक्तिके योगसे निहितार्थ—कोई प्रयोजन न लेकर अर्थात् स्वार्थकी अपेक्षा न करके बहुधा—नाना प्रकारके अनेकों वर्ण (विशेष-

स्यादौ । वि चैति व्येति चान्ते प्रलयकाले । चशब्दान्मध्येऽपि यस्मिन्विश्वं स देवो द्योतनस्वभावो विज्ञानैकरस इत्यर्थः । स नोऽस्माञ्शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु संयोजयतु ॥ १ ॥

रूप) धारण करता है तथा अन्तमें—प्रलयकालमें जिसमें विश्व लीन हो जाता है। 'चान्ते' के 'च' शब्दसे यह तात्पर्य है कि मध्यमें भी जिसमें विश्व स्थित है वह देव—प्रकाशस्वरूप अर्थात् विज्ञानैकरस परमात्मा हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ १ ॥

परमात्माकी सर्वरूपता

यस्मात्स एव स्रष्टा तस्मिन्नेव लयस्तस्मात्स एव सर्वं न ततो विभक्तमस्तीत्याह मन्त्रत्रयेण—

क्योंकि वही जगत्का रचयिता है और उसीमें उसका लय होता है अतः वही सर्वरूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है—यह बात आगेके तीन मन्त्रोंसे कही जाती है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र (शुद्ध) है, वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति है ॥२॥

तदेवेति । तदेवात्मतत्त्वमग्निः । तदादित्यः । एवशब्दः सर्वत्र संबध्यते तदेव शुक्रमिति दर्शनात् । शेषमृजु । तदेव शुक्रं

'तदेवाग्निः' इत्यादि । वह आत्मतत्त्व ही अग्नि है, वही सूर्य है । आगे 'तदेव शुक्रम्' ऐसा देखा जाता है इसलिये 'एव' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध है। शेष अर्थ सरल है । वही शुक्र यानी शुद्ध है

शुद्धमन्यदपि दीप्तिमन्नक्षत्रादि । तद्ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा तदापः स प्रजापतिर्विराडात्मा ॥ २ ॥

तथा और भी जो दीप्तिशाली नक्षत्रादि पदार्थ हैं वह भी वही है, तथा वही ब्रह्म—हिरण्यगर्भस्वरूप है, वही जल है और वही विराट्-रूप प्रजापति है ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्डके सहारे चलता है तथा तू ही [प्रपञ्चरूपसे] उत्पन्न होनेपर अनेकरूप हो जाता है ॥ ३ ॥

स्पष्टो मन्त्रार्थः ॥ ३ ॥

इस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

तू ही नीलवर्ण भ्रमर, हरितवर्ण एवं लाल आँखोंवाला जीव (शुकादि निकृष्ट प्राणी), मेघ तथा [ग्रीष्मादि] ऋतु और [सप्त] समुद्र है । तू अनादि है और सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है तथा तुझहीसे सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

नील इति । त्वमेवेति सर्वत्र संबध्यते । त्वमेव नीलः पतङ्गो

'नीलः' इत्यादि । यहाँ 'त्वमेव' (तू ही) इस पदका सबके साथ सम्बन्ध है । तू ही नीलवर्ण पतङ्ग—

भ्रमरः, पतनाद्गच्छतीति पतङ्गः। हरितो लोहिताक्षः शुकादिनिकृष्टाः प्राणिनस्त्वमेवेत्यर्थः। तडिद्गर्भो मेघ ऋतवः समुद्राः। यस्मात्त्वमेव सर्वस्यात्मभूतस्तस्मादनादिस्त्वमेव त्वमेवाद्यन्तशून्यः, विभुत्वेन व्यापकत्वेन यतो जातानि भुवनानि विश्वानि ॥ ४ ॥

भ्रमर है। नीचे गिरते चलनेके कारण भ्रमरको पतङ्ग कहते हैं। तू ही हरित लोहिताक्ष है, अर्थात् शुकादि निकृष्ट प्राणिवर्ग भी तू ही है। तू ही तडिद्गर्भ--मेघ, ऋतु एवं समुद्र है। इस प्रकार क्योंकि तू ही सबका आत्मा है इसलिये तू अनादि है—तेरा आदि और अन्त नहीं है, जिससे कि विभु अर्थात् व्यापक होनेके कारण, सम्पूर्ण भुवन उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

प्रकृति और जीवके सम्बन्धका विचार

इदानीं तेजोऽबन्नलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति—

अब छान्दोग्योपनिषद्में प्रसिद्ध तेज, अप् और अन्नरूपा प्रकृतिको श्रुति अजारूपसे कल्पित करके दिखलाती है--

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्णा अजा (बकरी—प्रकृति) को एक अज (बकरा—जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्तभोगाको त्याग देता है ॥५॥

अजामेकामिति । अजां प्रकृतिं लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽबन्नलक्षणां बह्वीः प्रजाः सृजमानामुत्पादयन्तीं ध्यानयोगानुगतदृष्टां देवात्मशक्तिं वा सरूपाः समानाकारा अजो ह्येको विज्ञानात्मानादिकामकर्मविनाशितः स्वयमात्मानं मन्यमानो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते भजते । अन्य आचार्योपदेशप्रकाशावसादितविद्यान्धकारो जहाति त्यजति ॥ ५ ॥

'अजामेकाम्' इत्यादि । सरूपा—एक समान आकारवाली बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली लोहित-शुक्ल-कृष्णा—तेज, अप् और अन्न-रूपा अजा—प्रकृतिको अथवा ध्यान-योगमें स्थित ब्रह्मवादियोंद्वारा देखी गयी देवात्मशक्तिको एक अज—विज्ञानात्मा, जो अनादि काम और कर्मद्वारा स्वरूपसे भ्रष्ट कर दिया गया है, इस प्रकृतिको ही अपना स्वरूप मानकर सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा गुरुदेवके उपदेशरूप प्रकाशसे अविद्यान्धकारके नष्ट हो जानेके कारण इसे छोड़ देता है ॥ ५ ॥

जीव और ईश्वरकी विलक्षणता

इदानीं सूत्रभूतौ परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्येते—

अब परमार्थतत्त्वका निश्चय करानेके लिये दो सूत्रभूत मन्त्रोंका उल्लेख किया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

सदा परस्पर मिलकर रहनेवाले दो सखा (समान नामवाले) सुपर्ण (सुन्दर गतिवाले पक्षी) एक ही वृक्षको आश्रित किये हुए हैं ।

उनमें एक उसके स्वादिष्ट फलोंको भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है ॥ ६ ॥

द्वेति । द्वा द्वौ विज्ञानपरमात्मानौ । सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सर्वदा संयुक्तौ । सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ । एवं भूतौ सन्तौ समानमेकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद्वृक्षं शरीरं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ समाश्रितवन्तावेतौ ।

तयोरन्योऽविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःखलक्षणं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः । अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते ॥ ६ ॥

'द्वा सुपर्णा' इत्यादि । द्वा—दो विज्ञानात्मा और परमात्मा, जो सुपर्ण हैं अर्थात् शुभ पतन—शुभ गमनवाले होनेसे सुपर्ण हैं, अथवा पक्षियोंके समान होनेसे जो सुपर्ण कहलाते हैं, और सयुज्—सर्वदा संयुक्त रहते हैं तथा सखा हैं—जिनके आख्यान (नाम) यानी अभिव्यक्तिके कारण समान हैं । ऐसे वे दोनों समान यानी एक ही वृक्षको—वृक्षके समान नाशमें समानता होनेके कारण शरीर वृक्ष है, उसे परिष्वक्त किये हैं अर्थात् ये दोनों उसपर आश्रित हैं ।

उनमें एक—अविद्या, काम और वासनाओंके आश्रयभूत लिङ्गदेहरूप उपाधिवाला विज्ञानात्मा अविवेकवश उसके स्वादु—अनेक विचित्र वेदनारूप स्वादवाले पिप्पल—सुखदुःखरूप कर्मफलोंको भोगता है तथा अन्य—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप परमात्मा उन्हें न भोगता हुआ उन सभीको देखता रहता है ॥ ६ ॥

तत्रैवं सति—

ऐसा होनेपर—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

उस एक ही वृक्षपर जीव [देहात्मभावमें] डूबकर मोहग्रस्त हो दीनभावसे शोक करता है । जिस समय यह [अनेकों योगमार्गोंसे] सेवित और देहादिसे भिन्न ईश्वर और उसकी महिमाको देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है ॥ ७ ॥

समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो भोक्ताविद्याकामकर्मफलरागादि-गुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव समुद्र-जले निमग्नो निश्चयेन देहात्म-भावमापन्नः 'अयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखी' इत्येवंप्रत्ययो नान्योऽस्त्यस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते च संबन्धिबान्धवैः । अतोऽनीशया 'न कस्यचित्समर्थोऽहं पुत्रो मम नष्टो मृता मे

एक ही वृक्ष यानी शरीरमें पुरुष—भोक्ता जीव अविद्या, काम, कर्म, कर्मफल और रागादिके भारी भारसे आक्रान्त हो समुद्रके जलमें डूबे हुए तूँबेके समान यानी निश्चय ही देहात्मभावको प्राप्त हुआ—'यह देह मैं हूँ, मैं अमुकका पुत्र हूँ, उसका नाती हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, गुणवान् हूँ, गुणहीन हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इस प्रकारके प्रत्ययोंवाला हो, ऐसा समझकर कि इस देहसे भिन्न कोई और नहीं है जन्मता, मरता एवं अपने सम्बन्धी बन्धुओंसे संयुक्त होता है । अतः अनीशतासे—'मैं किसी कार्यके लिये समर्थ नहीं हूँ, मेरा पुत्र नष्ट हो गया, स्त्री मर

भार्या किं मे जीवितेन' इत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया विचित्रतामापद्यमानः।

स एव प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वापतन्दुःखमापन्नः कदाचिदनेकजन्मशुद्धधर्मसञ्चयननिमित्तं केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागसमाहितात्मा सन् शमादिसम्पन्नो जुष्टं सेवितमनेकयोगमार्गैर्यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमसंसारिणमशनायाद्यसंस्पृष्टं सर्वान्तरं परमात्मानमीशम् 'अयमहमस्मीत्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतान्तरस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मा' इति विभूतिं महिमानमिति जगद्रूप-

गयी अब मेरे जीनेसे क्या लाभ है ?' इस प्रकारका दीनभाव ही अनीशा (असमर्थता) है उससे युक्त होकर और मोहग्रस्त होकर यानी अनर्थके अनेकों प्रकारोंसे अविवेकवश विचित्र स्थितिको प्राप्त होकर शोक अर्थात् सन्ताप करता है ।

वही प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें पड़कर दुःख भोगता है । जब कभी अनेक जन्मोंके सञ्चित पुण्यकर्मविपाकसे कोई परमकृपालु आचार्य उसे योगमार्गका उपदेश कर देते हैं तो वह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं सर्वत्यागके द्वारा समाहितचित्त और शमादि साधनोंसे सम्पन्न हो अनेक योगमार्गोंसे सेवित अन्य यानी वृक्ष (देह) रूप उपाधिसे भिन्न, संसारधर्मशून्य, क्षुधादिसे असंस्पृष्ट, सर्वान्तर्यामी ईश्वर परमात्माका ध्यान करता हुआ उसे देखता है । अर्थात् 'मैं यह हूँ, अर्थात् मैं सबमें समान और समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित आत्मा हूँ, अविद्याजनित उपाधिसे परिच्छिन्न मायात्मा नहीं हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार करता है और उसकी विभूतिरूप महिमाको देखता है यानी यह जगद्रूप महिमा

मस्यैव महिमा परमेश्वरस्येति यदैवं पश्यति तदा वीतशोको भवति। सर्वस्माच्छोकसागराद्वि- मुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः। अथवा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश- मस्यैव प्रत्यगात्मनो महिमानम् इति तदा वीतशोको भवति॥७॥

इस परमात्माकी ही है—ऐसा जिस समय देखता है उस समय यह शोकरहित हो जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण शोकसागरसे मुक्त यानी कृतकृत्य हो जाता है। अथवा [ऐसा अर्थ करना चाहिये कि] जिस समय इस भोक्ता जीवको यह योगिसेवित अन्य-ईश्वररूप अर्थात् इस प्रत्यगात्माकी ही महिमारूप देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है॥७॥

ब्रह्मकी अधिष्ठानरूपता और उसके ज्ञानसे कृतार्थता

इदानीं तद्विदां कृतार्थतां दर्शयति—

अब श्रुति ब्रह्मवेत्ताओंकी कृतार्थता प्रदर्शित करती है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥८॥

जिसमें समस्त देवगण अधिष्ठित हैं उस अक्षर परव्योममें ही वेदत्रय स्थित हैं [अर्थात् वे भी उसीका प्रतिपादन करते हैं]। जो उसको नहीं जानता वह वेदोंसे ही क्या कर लेगा ? जो उसे जानते हैं वे तो ये कृतार्थ हुए स्थित हैं॥८॥

ऋच इति। वेदत्रयवेद्येऽक्षरे परमे व्योमन्व्योम्न्याकाशकल्पे

'ऋचः' इत्यादि। वेदत्रयवेद्य अक्षर परमाकाशमें—आकाशसदृश

यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः— आश्रितास्तिष्ठन्ति । यस्तं परमात्मानं न वेद किमृचा करिष्यति ? य इत्तद्विदुस्त इमे समासते—कृतार्थास्तिष्ठन्ति ॥८॥	परब्रह्ममें, जिसमें समस्त देवगण अधिष्ठित हैं—उसके आश्रयसे स्थित हैं उस परमात्माको जो नहीं जानता वह वेदसे क्या कर लेगा ? और जो उसे जानते हैं वे तो ये सम्यक् प्रकारसे रहते हैं अर्थात् कृतार्थ हुए स्थित हैं ॥ ८ ॥

मायोपाधिक ईश्वर ही सबका स्रष्टा है

इदानीं तस्यैवाक्षरस्य मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वं तन्निमित्तत्वं च भेदेन दर्शयति—	अब श्रुति उस अक्षर परमात्माका ही मायारूप उपाधिके कारण जगत्-स्रष्टृत्व[1] और जगन्निमित्तत्व[2] अलग-अलग दिखलाती है—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-
त्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥

वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षरसे ही उत्पन्न करता है, और उस (प्रपञ्च) में ही मायासे अन्य-सा होकर बँधा हुआ है ॥ ९ ॥

छन्दांसीति । छन्दांसि ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसाख्या वेदाः । देवयज्ञादयो यूपसंबन्धरहितवि-	'छन्दांसि' इत्यादि । ऋग्, यजुः, साम और अथर्वसंज्ञक वेद छन्द हैं, जिनमें यूपका सम्बन्ध नहीं होता वे देवयज्ञादि विहित कर्म यज्ञ कहलाते

१. जगत्का उपादानकारणत्व । २. जगत्का निमित्तकारणत्व ।

हितक्रियाश्च यज्ञाः । ज्योतिष्टोमादयः क्रतवः । व्रतानि चान्द्रायणादीनि । भूतमतीतम् । भव्यं भविष्यत् । यदिति तयोर्मध्यवर्ति वर्तमानं सूचयति । चशब्दः समुच्चयार्थः । यज्ञादिसाध्ये कर्मणि प्रपञ्चे भूतादौ च वेदा एव मानमित्येतत् । यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते । अस्मात्प्रकृतादक्षराद्ब्रह्मणः पूर्वोक्तं सर्वमुत्पद्यत इति संबन्धः ।

अविकारिब्रह्मणः कथं प्रपञ्चोपादानत्वम्? इत्यत आह—मायीति । कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वस्रष्टृत्वमुपपन्नमित्येतत् । विश्वं पूर्वोक्तप्रपञ्चं सृजत उत्पादयति । स्वमायया कल्पिते तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे माययैवान्य इव संनिरुद्धः संबद्धोऽविद्यावशगो भूत्वा संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

हैं, ज्योतिष्टोमादि याग क्रतु हैं तथा चान्द्रायणादि व्रत हैं । भूत—जो बीत चुका है, भव्य—जो होनेवाला है । 'यत्' यह पद उनके मध्यवर्ती वर्तमानका सूचक है और 'च' शब्द सबका समुच्चय करनेके लिये है । तात्पर्य यह है कि यज्ञादिसाध्य कर्म और भूतादि प्रपञ्चमें वेद ही प्रमाण हैं । मूलमें 'यत्' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध है । इसका सम्बन्ध इस प्रकार है कि जो कुछ पहले कहा गया है सब इस प्रकृत अक्षर ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है ।

अविकारी ब्रह्म किस प्रकार प्रपञ्चका उपादान कारण हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—'मायी सृजते' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि कूटस्थ ब्रह्मका भी अपनी शक्तिके द्वारा सबका रचयिता होना सम्भव ही है । वह विश्व अर्थात् पूर्वोक्त प्रपञ्चको उत्पन्न करता है । तथा अपनी मायासे कल्पित हुए उस भूतादि प्रपञ्चमें वह मायासे ही अन्य-सा होकर बँध गया है, अर्थात् अविद्याके वशीभूत होकर संसार-समुद्रमें भटकता रहता है ॥ ९ ॥

प्रकृति और परमेश्वरका स्वरूप तथा उनकी सर्वव्यापकता

पूर्वोक्तायाः प्रकृतेर्मायात्वं तदधिष्ठातृसच्चिदानन्दरूपब्रह्मणस्तदुपाधिवशान्मायित्वं च चिद्रूपस्य मायावशात्कल्पितावयवभूतैः कार्यकरणसंघातैः सर्वं भूरादीदं परिदृश्यमानं जगद्व्याप्तं चेत्याह—

पूर्वोक्त प्रकृति माया है और उसका अधिष्ठाता सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म उस (मायारूप) उपाधिके कारण मायावी है तथा उस चिद्रूप ब्रह्मके मायाके कारण कल्पित हुए अवयवरूप कार्य-करणसंघातसे यह दिखायी देता हुआ भूर्लोकादि सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है—इस आशयसे श्रुति कहती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

प्रकृतिको तो माया जानना चाहिये और महेश्वरको मायावी । उसीके अवयवभूत [कार्य-करणसंघात] से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ॥ १० ॥

मायां त्विति । जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिर्मायैवेति विद्याद्विजानीयात् । तुशब्दोऽवधारणार्थः । महांश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वरस्तं मायिनं मायायाः सत्तास्फूर्त्यादिप्रदं तथाधिष्ठानत्वेन प्रेरयितारमेव विद्यादिति पूर्वेण संबन्धः । तस्य

'मायां तु' इत्यादि । पीछे जिसका जगत्की प्रकृति (कारण) रूपसे सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है—वह प्रकृति माया ही है—ऐसा जाने । यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । जो महान् और ईश्वर होनेके कारण महेश्वर है उसे मायावी —मायाको सत्ता-स्फूर्ति आदि देनेवाला तथा अधिष्ठानरूपसे उसे प्रेरित करनेवाला जानना चाहिये—इस प्रकार इसका पूर्वोक्त 'विद्यात्' क्रियासे सम्बन्ध है । उस प्रकृत

प्रकृतस्य परमेश्वरस्य रज्ज्वाद्यधिष्ठानेषु कल्पितसर्पादिस्थानीयैः मायिकैः स्वावयवैरध्यासद्वारेदं भूरादि सर्वं व्याप्तमेव पूर्णमित्येतत्।तुशब्दस्त्ववधारणार्थः॥१०॥

परमेश्वरके, रज्जु आदि अधिष्ठानोंमें कल्पित सर्पादिरूप मायिक अवयवोंसे अध्यासद्वारा यह भूर्लोकादि सम्पूर्ण जगत् व्याप्त यानी पूर्ण है। यहाँ भी 'तु' शब्द निश्चयार्थक ही है॥१०॥

कारण-ब्रह्मके साक्षात्कारसे परम शान्तिकी प्राप्ति

मायातत्कार्यादियोनेः कूटस्थस्य स्ववशतोऽधिष्ठातृत्वं वियदादिकार्याणामुत्पत्तिहेतुत्वं तेनैव सर्वाधिष्ठातृत्वोपलक्षितसच्चिदानन्दवपुषा ब्रह्मास्मीत्येकत्वज्ञानान्मुक्तिं च दर्शयति—

माया और उसके कार्यादिका मूलभूत कूटस्थ ब्रह्म अपने स्वतन्त्ररूपसे सबका अधिष्ठाता है तथा आकाशादि कार्योंकी उत्पत्तिका हेतु है और उस शुद्धस्वरूपसे ही उसके सर्वाधिष्ठातृत्वसे उपलक्षित होनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूपसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा एकत्व-ज्ञान होनेसे मुक्ति होती है; यह बात श्रुति दिखलाती है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥११॥

जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता है, जिसमें यह सब सम्यक् प्रकारसे लीन होता है और फिर विविधरूप हो जाता है उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तवनीय देवका साक्षात्कार करके साधक इस परम शान्तिको प्राप्त होता है॥११॥

यो योनिमिति । यो मायाविनिर्मुक्तानन्दैकघनः परमेश्वरो योनिं योनिमिति वीप्सया मूलप्रकृतिर्मायावान्तरप्रकृतयो वियदादयश्च सूचितास्ताः प्रकृतीः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनाधिष्ठाय तिष्ठत्यन्तर्यामिरूपेण । "य आकाशे तिष्ठन्" (बृ० उ० ३ । ७ । १२) इत्यादि श्रुतेः । एकोऽद्वितीयः । यस्मिन्मायाद्यधिष्ठातरीश्वर इदं सर्वं जगदुपसंहारकाले समेति संगच्छते लयं प्राप्नोति । पुनः सृष्टिकाले विविधमेत्याकाशादिरूपेण नाना भवति । तं प्रकृतमधिष्ठातारमीशानं नियन्तारं वरदं मोक्षप्रदं देवं द्योतनात्मकमीड्यं वेदादिभिः स्तुत्यं निचाय्य निश्चयेन ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृत्य सुषुप्त्यादौ प्रत्यक्षीकृता या सर्वोपरमलक्षणा सर्वजनीना शान्तिः सेदमा दर्शिता तां प्रसिद्धामिमां शान्तिं सर्वदुःखविनिर्मुक्तसुखैकतानस्वरूपां मुक्ति-

'यो योनिम्' इत्यादि । जो मायातीत विशुद्धानन्दघन परमेश्वर योनि-योनिको—'योनिं योनिम्' इस द्विरुक्तिसे मूलप्रकृतिरूपा माया और अवान्तर प्रकृतिरूप आकाशादि—ये दोनों प्रकृतियाँ (योनियाँ) सूचित होती हैं उन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंको सत्ता-स्फूर्तिप्रदरूपसे अधिष्ठित करके अन्तर्यामीरूपसे स्थित है जैसा कि "जो आकाशमें स्थित है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । जो एक—अद्वितीय है । जिस मायादिके अधिष्ठाता ईश्वरमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयकालमें संगत—लयको प्राप्त होता है और फिर सृष्टिकालमें विविधताको प्राप्त होता अर्थात् आकाशादिरूपसे नानाकार हो जाता है उस प्रस्तुत अधिष्ठाता, ईशान—नियन्ता, वरद—मोक्षप्रद, देव—प्रकाशस्वरूप और ईड्य—वेदादिद्वारा स्तुत्यको अनुभव कर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चयरूपसे प्रत्यक्ष कर सुषुप्ति आदिमें अनुभव की हुई जो सर्वोपरतिरूपा सर्वजनहितकारिणी शान्ति है वह यहाँ 'इदम्' शब्दसे—'इमाम्' इस संकेतसे दिखायी गयी है, उस इस प्रसिद्ध शान्तिको अर्थात् सर्वदुःखशून्यसुखैकतानतारूपा मुक्तिको

मिति यावत् । गुरूपदिष्टतत्त्वमादिवाक्यजन्यसुतत्त्वज्ञानेनाविद्यातत्कार्यादिविश्वमायानिवृत्त्यात्यन्तं पुनरावृत्तिरहितं यथा भवति तथैत्येकरसो भवतीत्येतत् ॥११॥

प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि गुरुके उपदेश किये हुए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले सम्यक्तत्त्वज्ञानसे अविद्या और उसके कार्यादिरूप सम्पूर्ण मायाके निवृत्त हो जानेसे वह आत्यन्तिकी—जिससे कि वह पुनरावृत्तिशून्य हो जाता है ऐसी मुक्तिको प्राप्त हो जाता है; अर्थात् एकरस (ब्रह्मस्वरूप) हो जाता है ॥ ११ ॥

अखण्डज्ञानकी सिद्धिके लिये परमात्माकी प्रार्थना

सूत्रात्मानं प्रत्यविरतमभिमुखतया वीक्षन्तं परमेश्वरं प्रत्यखण्डिततत्त्वज्ञानसिद्धये प्रार्थनामाह—

अब अखण्ड तत्त्वज्ञानकी सिद्धिके लिये श्रुति सूत्रात्माके प्रति निरन्तर अभिमुख रहकर दृष्टिपात करनेवाले परमात्माकी प्रार्थना करती है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १२॥

जो रुद्र देवताओंकी उत्पत्ति और ऐश्वर्यप्राप्तिका हेतु, जगत्का स्वामी और सर्वज्ञ है तथा जिसने सबसे पहले हिरण्यगर्भको अपनेसे उत्पन्न देखा था वह हमें शुद्ध बुद्धिसे संयुक्त करे ॥ १२ ॥

यो देवानामिति । पूर्वमेवास्य प्रतिपादितोऽर्थः ॥१२॥

'यो देवानाम्' इत्यादि । इसका अर्थ पहले (अध्याय ३ मन्त्र ४ में) ही कह दिया गया है ॥ १२ ॥

ब्रह्मप्रमुखाणां देवानां स्वामितामाकाशादिलोकाश्रयत्वं प्रमात्रादीनां नियन्तृत्वं बुद्धिशुद्धिद्वारा सम्यग्ज्ञानसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिः प्रार्थ्यमानत्वं च परमेश्वरस्याह—

अब, ब्रह्मादि देवताओंके स्वामित्व, आकाशादि लोकोंके आश्रयत्व, प्रमातादिके नियन्तृत्व और बुद्धिकी शुद्धिके द्वारा सम्यग्ज्ञानकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुओंद्वारा प्रार्थनीयत्व आदि परमात्माके गुणोंका वर्णन करती है—

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३॥

जो देवताओंका स्वामी है, जिसमें सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं और जो इस द्विपद एवं चतुष्पद प्राणिवर्गका शासन करता है उस आनन्दस्वरूप देवकी हम हविके द्वारा परिचर्या (पूजा) करें ॥१३॥

यो देवानामधिप इति । यः प्रकृतः परमेश्वरो देवानां ब्रह्मादीनामधिपः स्वामी यस्मिन् परमेश्वरे सर्वकारणे भूरादयो लोका अधिश्रिता अध्युपरि श्रिता अध्यस्ता इति यावत् । यः प्रकृतः परमेश्वरोऽस्य द्विपदो मनुष्यादेश्चतुष्पदः पश्वादेश्चेश ईष्टे । तकारलोपश्छान्दसः । कस्मै कायानन्दरूपाय । स्मैभावोऽपि च्छान्दसः । देवाय द्योतनात्मने

'यो देवानामधिपः' इत्यादि । जिसका यहाँ प्रसंग है ऐसा जो परमेश्वर ब्रह्मादि देवताओंका अधिपति—स्वामी है, सबके कारणभूत जिस परमेश्वरमें भूर्लोकादि सम्पूर्ण लोक अधिश्रित—अधि-ऊपर श्रित अर्थात् अध्यस्त है तथा जो प्रकृत परमेश्वर इस मनुष्यादि द्विपाद् (दो पैरवाले) और पशु आदि चतुष्पाद् जीवसमुदायका शासन करता है । 'ईशे' इस क्रियापदमें तकारका लोप वैदिक है।* उस क-आनन्दरूप—मूलमें ['क' शब्दकी चतुर्थीके एकवचनको] 'स्मै' आदेश वैदिक † है—देव यानी द्योतनात्मक (प्रकाशस्वरूप)

* वास्तवमें यह पद ईश+ते=ईष्टे है ।

† क्योंकि सर्वनाम शब्दोंसे परे 'ङे' विभक्तिको ही 'स्मै' आदेश होता है ।

तस्मै हविषा चरुपुरोडाशादिद्रव्येण विधेम परिचरेम । विधेः परिचरणकर्मण एतद्रूपम् ॥ १३ ॥

को हवि—चरु-पुरोडाशादि द्रव्यसे विधेम—पूजें । परिचर्या (पूजा) ही जिसका कर्म है ऐसे 'विध' धातुका यह रूप है* ॥१३॥

परमात्मज्ञानसे शान्ति-प्राप्ति एवं बन्धननाशका पुनः उपदेश

परस्यातिसूक्ष्मत्वं जगच्चक्रे साक्षित्वेनावस्थितत्वं निखिलजगत्स्रष्टृत्वं सर्वात्मकत्वं तत्तादात्म्याज्ज्ञानां मुक्तिश्चेत्येतद्बहुशोऽधस्तात्प्रतिपादितं यद्यपि तथापि बुद्धिसौकर्यार्थं पुनरप्याह—

यद्यपि परमात्माके अत्यन्त सूक्ष्मत्व, जगच्चक्रमें साक्षीरूपसे स्थित होने, सम्पूर्ण जगत्को रचने, सर्वरूप होने एवं उसके तादात्म्य-ज्ञानसे जीवोंकी मुक्ति होनेका ऊपर अनेक प्रकारसे प्रतिपादन किया जा चुका है, तथापि यह सब समझनेमें सुगमता हो जाय, इसलिये श्रुति फिर भी कहती है—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४॥

सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, अविद्या और उसके कार्यरूप दुर्गम स्थानमें स्थित,† जगत्के रचयिता, अनेकरूप और संसारको एकमात्र भोग प्रदान करनेवाले शिवको जानकर जीव परम शान्ति प्राप्त करता है ॥१४॥

---

* यद्यपि 'विध विधाने' (तुदा० पर० सेट्) धातुसे विधि लिङ्के उत्तमपुरुषके बहुवचनमें 'विधेम' रूप बनता है । तथापि विधानका तात्पर्य परिचर्या (पूजा) में ही है—ऐसा मान लेनेसे अर्थ ठीक हो जाता है । अथवा 'धातु' के अनेक अर्थ होते हैं इस न्यायसे भी परिचर्या अर्थ ठीक ही है ।

† 'कलिल' शब्दके अर्थमें टीकाकारोंका मतभेद है । प्रस्तुत अर्थ शाङ्करभाष्यके अनुसार है । विज्ञानभगवान्ने भी यही अर्थ किया है । नारायणतीर्थ 'कलिलस्य मध्ये' का अर्थ 'तमसो मध्ये'—'अज्ञानके मध्यमें' करते हैं तथा शङ्करानन्दजी इस शब्दकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'नारीवीर्येण संगतं पौरुषं

सूक्ष्मेति । पृथिव्याद्यव्याकृतान्तमुत्तरोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरमपेक्ष्येश्वरस्य तदपेक्षया सूक्ष्मतमत्वमाह—सूक्ष्मातिसूक्ष्ममिति । कलिलस्याविद्यातत्कार्यात्मकदुर्गस्य गहनस्य मध्ये । शेषं व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

'सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्' इत्यादि । 'सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्' इस पदसे श्रुति पृथिवीसे लेकर अव्याकृतपर्यन्त जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं उनकी अपेक्षा भी ईश्वरकी सूक्ष्मतमता बतलाती है । कलिलके मध्यमें अर्थात् अविद्या और उसके कार्यरूप दुर्ग—गहन [स्थान] के मध्यमें । शेष अंशकी पहले व्याख्या हो चुकी है ॥ १४ ॥

परस्य साक्षिरूपेणावस्थितत्वं सनकादिभिर्ब्रह्मादिदेवैश्चाधिकारिपुरुषैरध्यात्मतया प्राप्यत्वं साधनचतुष्टयादियुतास्मदादीनां मोक्षसिद्धिं चाह—

अब परमात्माके साक्षिरूपसे स्थित होने, सनकादि और ब्रह्मादि देवताओं एवं अधिकारी पुरुषोंद्वारा आत्मस्वरूपसे प्राप्तव्य होने तथा साधनचतुष्टयादिसे सम्पन्न होनेपर हमलोगोंको भी मोक्ष प्राप्त होनेका प्रतिपादन किया जाता है—

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

वही अतीत कल्पोंमें विश्वका रक्षक था, वही विश्वका स्वामी और सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित है । [ऐसे] जिस परमात्मामें ब्रह्मर्षि और देवगण

वीर्यमल्पकालस्थं कलिलमित्युच्यते । अथवा जगदारम्भकाणामपां बुद्बुदस्य पूर्वावस्था कलिलमित्युच्यते । फेनिलान्युदकानीत्यर्थः' अर्थात् स्त्रीके रजसे मिला हुआ पुरुषका वीर्य कुछ काल स्थित रहनेपर 'कलिल' कहा जाता है । अथवा जगत्‌की रचना करनेवाले जलके बुलबुलेकी पूर्वावस्था 'कलिल' कही जाती है अर्थात् फेनयुक्त जल ।

अभिन्नरूपसे स्थित हैं उसे इस प्रकार जानकर पुरुष मृत्युके पाशोंको काट डालता है ॥ १५ ॥

स एवेति । स एव प्रकृतः कालेऽतीतकल्पेषु जीवसञ्चित-कर्मपरिपाकसमये भुवनस्य गोप्ता तत्तत्कर्मानुगुणतया रक्षिता । विश्वाधिपः विश्वस्य स्वामी । सर्व-भूतेषु गूढो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु साक्षिमात्रतयावस्थितः । यस्मिं-श्चिद्घनानन्दवपुषि परे युक्ता ऐक्यं प्राप्ताः । ते के ? ब्रह्मर्षयः सनकादयः । देवता ब्रह्मादयः । तमेवेश्वरं ज्ञात्वा ब्रह्माहमस्मीत्य-परोक्षीकृत्य मृत्युपाशान् मृत्यु-रविद्या तमो रूपादयश्च पाशाः पाशयन्त इति पाशास्तान् "मृत्युर्वै तमः" (बृ० उ० १ । ३ । २८) इति श्रुतेः । तत्कार्यकाम-कर्मच्छिनत्ति नाशयति । ऐक्य-रूपस्वप्रकाशाग्निना दहतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

'स एव' इत्यादि । वह प्रकृत परमेश्वर ही कालमें—अतीत कल्पों-में अर्थात् जीवोंके सञ्चित कर्मोंके फलोन्मुख होते समय भुवनका गोप्ता यानी विभिन्न जीवोंके कर्मानुसार उनका रक्षक था । वह विश्वाधिप—विश्वका स्वामी, समस्त भूतोंमें गूढ अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें साक्षीरूपसे स्थित है । जिस चिद्घनानन्दविग्रह परमात्मामें युक्त—ऐक्यभावको प्राप्त हैं; कौन ? सनकादि ब्रह्मर्षि और ब्रह्मादि देवगण । उसी ईश्वरको जानकर अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार कर [पुरुष] मृत्युके पाशोंको काट डालता है । अविद्या अर्थात् तम ही मृत्यु है तथा रूपादि विषय पाश हैं; क्योंकि उनमें ही जीव पाशित (बद्ध) होते हैं, अतः वे पाश हैं; श्रुति कहती है—"अज्ञान मृत्यु ही है ।" उस (अज्ञान) के कार्य काम और कर्मादिको काट डालता यानी नष्ट कर देता है; अर्थात् ऐक्यरूप स्वप्रकाशाग्निसे भस्म कर देता है ॥ १५ ॥

परस्यात्यन्तातिसूक्ष्मतमत्वमानन्दातिशयवत्त्वं निर्दोषवत्त्वं जीवेष्वतिसूक्ष्मतया स्वरूपेणावस्थितत्वं सर्वस्यापि सत्तादिप्रदतया व्यापित्वं तदेकत्वज्ञानात् पाशहानिं च दर्शयति—

अब श्रुति परमात्माका अत्यधिक सूक्ष्मतम, अतिशय आनन्दवान् और निर्दोष होना, जीवोंमें अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे स्थित होना, सबको सत्तास्फूर्त्ति देनेवाला होनेसे व्यापक होना तथा उसके एकत्वज्ञानसे बन्धनका नाश होना दिखलाती है—

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

घृतके ऊपर रहनेवाले उसके सार भागके समान अत्यन्त सूक्ष्म शिवको भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित जानकर तथा विश्वके एकमात्र भोगप्रद उस देवका साक्षात्कार कर पुरुष समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

घृतादिति । घृतोपरि विद्यमानं मण्डं सारस्तद्वतामतिप्रीतिविषयो यथा तथा मुमुक्षूणामतिसाररूपानन्दप्रदत्वेन निरतिशयप्रीतिविषयः परमात्मा तद्वद् घृतसारवदानन्दरूपेणात्यन्तसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवमित्येतद्व्याख्यातम् । सर्वभूतेषु गूढं ब्रह्मादिस्तम्ब-

'घृतात्' इत्यादि । जिस प्रकार घृतके ऊपर रहनेवाला मण्ड—उसका सारभाग घृतवालोंकी अत्यन्त प्रीतिका विषय होता है उसी प्रकार परमात्मा मुमुक्षुओंको साररूप अत्यन्त आनन्द प्रदान करनेके कारण उनकी निरतिशय प्रीतिका विषय है । उस घृतके सारके समान आनन्दरूपसे अत्यन्त सूक्ष्म शिवको, 'शिव' शब्दकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, समस्त भूतोंमें—ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त जीवोंमें

पर्यन्तेषु जन्तुषु कर्मफलभोगसाक्षित्वेन प्रत्यक्षतया वर्तमानमपि तैस्तिरस्कृतेश्वरभावम् । उत्तरार्धं व्याख्यातम् ॥१६॥

गूढ़ जानकर कर्मफलभोगके साक्षीरूपसे प्रत्यक्षतया वर्तमान रहते हुए भी उन (काम-कर्मादि) के द्वारा उसका ईश्वरत्व तिरस्कृत हो गया है [इसलिये उसे गूढ कहा जाता है] । उत्तरार्धकी व्याख्या की जा चुकी है ॥ १६ ॥

परमात्मसाक्षात्कारके साधन

निर्भेदसुखैकतानात्मनो विश्वकृत्त्वं तद्व्यापित्वं संन्यासिभिराप्तव्यमोक्षरूपत्वं चाह—

अब भेदशून्य सुखैकरस आत्माके विश्वकर्तृत्व एवं विश्वव्यापित्वका तथा संन्यासियोंद्वारा प्राप्तव्य मोक्षस्वरूपताका वर्णन करते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥

यह सर्वव्यापी देव जगत्कर्ता और सर्वदा समस्त जीवोंके हृदयमें स्थित है । यह प्रपञ्चनिषेधके उपदेश, आत्मानात्मविवेक-बुद्धि और एकत्वज्ञानके द्वारा प्रकाशित होता है, इसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥१७॥

एष इति । एष प्रकृतो देवो द्योतनात्मको विश्वकर्मा । महदादि विश्वं कर्म क्रियत इति कर्म मायावेशाद्विश्वरूपं कार्यमस्येति विश्व-

'एष देवो' इत्यादि । यह प्रकृत देव—द्योतनात्मक परमात्मा विश्वकर्मा है । महदादि विश्व कर्म है, यह किया जाता है इसलिये कर्म है; मायाके संसर्गवश विश्वरूप कार्य इसीका है इसलिये यह विश्वकर्मा

कर्मा। महांश्चासावात्मेति महात्मा सर्वव्यापीत्यर्थः । सदा सर्वदा जनानां हृदये परमे व्योम्नि हृदाकाशे जलाद्युपाधिषु सूर्यप्रतिविम्बवन्निविष्टः सम्यक्स्थित इत्येतत् । स एव साक्षिरूपेण हृदा 'हृञ् हरणे' इति स्मरणाद्धरतीति हृत्तेन हृदा नेति नेतीति निषेधोपदेशेन मनीषायं पुरुषार्थोऽयमपुरुषार्थोऽयमात्मायमनात्मेत्येतया विवेकबुद्धया मनसा विचारसाध्यैकत्वज्ञानेन चाभिक्लृप्तः प्रकाशितोऽखण्डैकरसत्वेनाभिव्यक्त इत्येतत् ।

ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिन एतत्तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यैकरूपमखण्डैकरसमिति यावद्विदुर्ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकुर्युस्ते यथोक्तज्ञानिनोऽमृता भवन्त्यमरणधर्माणः पुनरावृत्तिरहिता भवन्तीत्यर्थः ॥१७॥

है । तथा महान् और आत्मा होनेके कारण यह महात्मा अर्थात् सर्वव्यापी है । यह सर्वदा जीवोंके हृदय—परव्योम यानी हृदयाकाशमें जलादि उपाधियोंमें सूर्यप्रतिविम्बके समान निविष्ट अर्थात् सम्यक्‌रूपसे स्थित है । वही साक्षीरूपसे हृदा—'हृञ् हरणे' ('हृ' धातु हरणार्थक है) ऐसी [धातुसूत्ररूप] स्मृति होनेके कारण जो हरण करे उसका नाम हृत् है उसके द्वारा यानी 'नेति नेति' इत्यादि निषेधोपदेशसे, मनीषा —'यह पुरुषार्थ है और यह अपुरुषार्थ है, यह आत्मा है और यह अनात्मा है' इस प्रकारकी विवेकबुद्धिसे तथा मनसा— विचारसाध्य एकत्वज्ञानसे अभिक्लृप्त—प्रकाशित होता—यानी अखण्डैकरसस्वरूपसे अभिव्यक्त होता है ।

जो जन अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासिगण इसे 'यह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे प्रतिपादित अखण्डैकरसस्वरूप है' इस प्रकार जानते हैं अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार इसका साक्षात्कार करते हैं वे इस तरह बतलाये हुए ज्ञानीलोग अमृत—अमरणधर्मा अर्थात् पुनरावृत्तिशून्य हो जाते हैं ॥ १७ ॥

ज्ञानसे द्वैत-निवृत्तिका उपदेश

कालत्रयेऽपि मुक्तौ प्रलयादौ च परमात्मा कूटस्थ इति निश्चयाज्जाग्रत्स्वप्नयोरपि भ्रान्त्या सद्वितीयत्वावभासः। वस्तुतस्तु सदा निर्भेद एवेत्याह—

तीनों ही कालमें तथा मुक्ति और प्रलय आदिमें भी परमात्मा कूटस्थ ही है—ऐसा निश्चय होनेसे जाग्रत् और स्वप्नमें भी भ्रान्तिसे ही द्वैत-प्रतीति होती है; वस्तुतः तो सर्वदा अभेद ही है—यह बात श्रुति बतलाती है—

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

जिस समय अज्ञान नहीं रहता उस समय न दिन रहता है न रात्रि और न सत् रहता है न असत्, एकमात्र शिव रह जाता है; वह अविनाशी और आदित्यमण्डलाभिमानी देवका भजनीय है तथा उसीसे पुरातन प्रज्ञा (गुरुपरम्परागत ज्ञान) का प्रसार हुआ है ॥ १८ ॥

यदेति। यदा यस्यामवस्थायामतमो न तमोऽस्येत्यतमस्तत्त्वमादिवाक्यजन्यज्ञानेन दीपस्थानीयेन दग्धाविद्या तत्कार्यरूपतमस्कत्वात्तदा तत्काले न दिवा दिवारोपोऽपि नास्ति न रात्रिस्त-

'यदा' इत्यादि। जिस अवस्थामें अतम—जिसमें तम (अज्ञान) नहीं है ऐसा अतम रहता है अर्थात् जब दीपकरूप तत्त्वमस्यादि-वाक्यजनित ज्ञानसे अविद्या दग्ध हो जाती है, क्योंकि वह अपने कार्यरूप तमवाली है, उस समय न दिन—दिनका आरोप होता है और न रात्रि—रात्रिका ही

दारोपोऽपि नास्तीति सर्वत्रानुषङ्गः । न सन्सत्तारोपोऽपि । नासन्नभावारोपोऽपि ।

तर्हि तत्त्वं सर्वत्र शून्यमेव जातमिति बौद्धमताविशेषमाशङ्क्याह—शिव एवेति । शिव एव शुद्धस्वभावो न शून्यमिति निपातार्थः । केवलोऽविद्याविकल्पशून्यः । तदक्षरं तदुक्तस्वरूपं न क्षरतीत्यक्षरं नित्यं तत्तत्पदलक्ष्यं सवितुरादित्यमण्डलाभिमानिनो वरेण्यं संभजनीयम् । प्रज्ञा गुरूपदेशात्तत्त्वमादिवाक्यजा बुद्धिः, चकार एवकारार्थः, तस्माच्छुद्धत्वहेतोः प्रसृता नित्यविवेकादिमत्सु संन्यासिषु व्याप्ता पूर्णत्वाकारेण पुराणी ब्रह्माणमारभ्य परम्परया प्राप्तानादिसिद्धा ॥१८॥

आरोप होता है—इस प्रकार 'आरोप' शब्दका सबके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये । और न सत्—सत्ताका आरोप रहता है न असत्—अभावका आरोप ही रहता है ।

तब तो सर्वत्र शून्य ही तत्त्व रहा—इस प्रकार बौद्धमतके सादृश्यकी आशङ्का करके श्रुति कहती है—'शिव एव' इत्यादि । उस समय शिव यानी शुद्धस्वभाव परमात्मा ही रहता है, शून्य नहीं रहता—यह अर्थ निपातसे ध्वनित होता है । वह केवल अर्थात् अविद्यारूप विकल्पसे रहित, अक्षर—उसके स्वरूपका क्षय नहीं होता इसलिये अक्षर यानी नित्य, तत्—तत्पदका लक्ष्यार्थ तथा सविता—आदित्यमण्डलाभिमानी देवताका वरेण्य—वरणीय यानी सम्यक् प्रकारसे भजनीय है । उस शुद्धत्वके हेतुसे प्रज्ञा—गुरुके उपदेशसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रसृत हुई है अर्थात् नित्य पदार्थके विवेकादिसे सम्पन्न संन्यासियोंमें पूर्णत्वरूपसे व्याप्त हुई है । वह पुराणी यानी ब्रह्मासे आरम्भ करके परम्परासे प्राप्त हुई है अर्थात् अनादिसिद्ध है । यहाँ चकार एवके अर्थमें है ॥१८॥

ब्रह्मके अनुपम एवं इन्द्रियातीत स्वरूपका वर्णन

कूटस्थस्य ब्रह्मण ऊर्ध्वादिषु दिक्षु केनाप्यपरिग्राह्यत्वमद्वितीयत्वात्केनाप्यतुलितत्वं कालदिगाद्यनवच्छिन्नयशोरूपत्वं चाह—

अब श्रुति यह बतलाती है कि कूटस्थ ब्रह्म ऊर्ध्वादि दिशाओंमें किसीसे भी ग्राह्य नहीं है, अद्वितीय होनेके कारण कोई उसके समान नहीं है, तथा वह काल-दिगादिसे अनवच्छिन्न यशःस्वरूप है—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ १९ ॥

उसे ऊपरसे, इधर-उधरसे अथवा मध्यमें भी कोई ग्रहण नहीं कर सकता । जिसका नाम महद्यश है ऐसे उस ब्रह्मकी कोई उपमा भी नहीं है ॥ १९ ॥

नैनमिति । एनं प्रकृतमपरिच्छिन्नरूपत्वान्निरंशत्वान्निरवयवत्वाच्चोर्ध्वादिषु दिक्षु कश्चिदपि न परिजग्रभत्परिग्रहीतुं न शक्नुयात् । तस्य तस्यैवेश्वरस्याखण्डसुखानुभवत्वादेतादृशद्वितीयाभावात्प्रतिमोपमा नास्ति । यस्य नाम महद्यशो यस्येश्वरस्य नामाभिधानं महद्दिगाद्यनवच्छिन्नं सर्वत्र परिपूर्णं यशः कीर्तिः ॥ १९ ॥

'नैनम्' इत्यादि । अपरिच्छिन्न, निरंश और निरवयव होनेके कारण इस प्रकृत ब्रह्मको ऊर्ध्वादि दिशाओंमें कोई ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है । अखण्डानन्दानुभवरूप होनेसे उसके समान कोई दूसरा न होनेसे उस ईश्वरकी कोई प्रतिमा—उपमा नहीं है । जिसका नाम महद्यश है अर्थात् जिस ईश्वरका नाम—अभिधान महत्—दिगादिसे अपरिमित यानी सर्वत्र पूर्ण यश—कीर्ति है* ॥ १९ ॥

* अर्थात् 'वह दिगाद्यनवच्छिन्न कीर्तिवाला' है ।

ईशस्येन्द्रियाद्यविषयतां प्रत्यग्रूपतां तदैक्यज्ञानान्मोक्षतां चाह—

अब श्रुति ईश्वरकी इन्द्रियादिकी अविषयता, प्रत्यग्रूपता और उसके साथ आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे मोक्षप्राप्तिका वर्णन करती है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २० ॥

इसका स्वरूप नेत्रादिसे ग्रहण करनेयोग्य स्थानमें नहीं है, उसे कोई भी नेत्रद्वारा नहीं देख सकता । जो इस हृदयस्थित परमात्माको शुद्ध-बुद्धि यानी मनसे इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ २० ॥

न संदृश इति । अस्य प्रकृतेश्वरस्य रूपं स्वरूपं रूपादिरहितं निर्विशेषं स्वप्रकाशाखण्डसुखानुभवं संदृशे चक्षुरादिग्रहणयोग्यप्रदेशे न तिष्ठति तद्विषयो न भवतीत्येतत् । इन्द्रियागोचरत्वादेवैनं प्रकृतं चक्षुरित्युपलक्षणम् । सर्वेन्द्रियैरपि कश्चन कोऽपि न पश्यति तद्विषयतया ग्रहीतुं न शक्नुयात् । "यच्चक्षुषा न पश्यति

'न संदृशे' इत्यादि । इस प्रकृत ईश्वरका रूप अर्थात् रूपादिरहित निर्विशेष स्वप्रकाश अखण्डानन्दानुभवमय स्वरूप संदृश—नेत्रादि इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य प्रदेशमें स्थित नहीं है, अर्थात् यह उनका विषय नहीं होता । इन्द्रियोंका विषय न होनेसे ही इस प्रकृत परमात्माको कोई भी नेत्रसे—नेत्र यहाँ समस्त इन्द्रियोंको उपलक्षित करता है, अतः किसी भी इन्द्रियसे नहीं देख सकता अर्थात् इसे इन्द्रियोंके विषयरूपसे ग्रहण नहीं कर सकता । "जिसे कोई नेत्रद्वारा नहीं देख सकता अपितु

येन चक्षूंषि पश्यति" (के० उ० १ । ६) इत्यादिश्रुतेः । हृदा शुद्धबुद्ध्यैतद्व्याख्यातं मनसेति हृदिस्थं हृदाकाशगुहास्थं प्रत्यक्तया तत्रावस्थितं ये साधनचतुष्टयादियुक्ताः संन्यासिनो योग्याधिकारिण एनं प्रकृतं ब्रह्मात्मानमेवमित्थं ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षेण विदुर्जानन्ति तेऽपरोक्षीकरणमहिम्नामृता भवन्त्यमरणधर्माणो भवन्ति । मरणहेत्वविद्यादेस्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धत्वात्पुनर्देहान्तरं न भजन्तीत्यर्थः ॥२०॥

जिसकी सत्तासे नेत्र देखता है" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। जो साधनचतुष्टयादिसम्पन्न संन्यासी यानी योग्य अधिकारी हृदयस्थित—हृदयाकाशरूप गुहामें स्थित अर्थात् वहाँ प्रत्यक्‌रूपसे विद्यमान इस प्रकृत ब्रह्मरूप आत्माको हृदय—शुद्धबुद्धिसे, इसीकी व्याख्या करके कहते हैं 'मनसे' इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वे उस साक्षात्कारकी महिमासे अमृत—अमरणधर्मा हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि मरणके हेतुभूत अज्ञानादिका तत्त्वज्ञानरूप अग्निसे दाह हो जानेके कारण वे पुनः अन्य देह धारण नहीं करते ॥२०॥

परमेश्वरका स्तवन

इदानीं तत्प्रसादादेवेष्टप्राप्तिपरिहाराविति मत्वा तमेव परमेश्वरं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

अब यह मानकर कि उसीकी कृपासे इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति हो सकती हैं दो मन्त्रोंसे उस परमेश्वरकी ही स्तुति करते हैं—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

हे रुद्र ! तुम अजन्मा हो, इसलिये कोई [मुझ-जैसा] संसारभयसे कातर पुरुष तुम्हारी शरण लेता है [और कहता है कि] तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे मेरी सर्वदा रक्षा करो ॥ २१ ॥

अजात इति । इतिशब्दो हेत्वर्थः । यस्मात्त्वमेवाजातो जन्मजराशनायापिपासाधर्मवर्जितः। इतरत्सर्वं विनाशि दुःखान्वितम्, तस्माज्जन्मजरामरणाशनायापिपासाशोकमोहान्वितात्संसाराद्भीरुर्भीतः सन्कश्चिदेक एव परतन्त्रस्त्वामेव शरणं प्रपद्ये मादृशो वा कश्चित्प्रपद्यत इति प्रथमपुरुषमन्वधीयते । हे रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखमुत्साहजननं ध्यातमाह्लादकरम् । अथवा दक्षिणस्यां दिशि भवं दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं सर्वदा ॥२१॥

'अजातः' इत्यादि । मूलमें 'इति' शब्दसे हेतुवाचक है । क्योंकि तुम्हीं अजात यानी जन्म, जरा, क्षुधा, पिपासादि धर्मोंसे रहित हो, और सब तो नाशवान् एवं दुःखी हैं, इसलिये जो जन्म-जरा-मरण, क्षुधा-पिपासा एवं शोक मोहादिपूर्ण संसारसे डरा हुआ है ऐसा कोई एक मैं परतन्त्र जीव तुम्हारी ही शरण लेता हूँ; अथवा कोई मुझ-जैसा शरण लेता है—इस आशयसे इस क्रियाका प्रथम पुरुषसे सम्बन्ध किया जा सकता है । अतः हे रुद्र ! तुम्हारा जो उत्साहजनक दक्षिण मुख है, जो ध्यान करनेपर आनन्द पैदा करनेवाला है अथवा दक्षिण दिशामें होनेके कारण जो दक्षिण मुख है उससे तुम नित्य—सर्वदा मेरी रक्षा करो ॥ २१ ॥

किञ्च—

तथा—

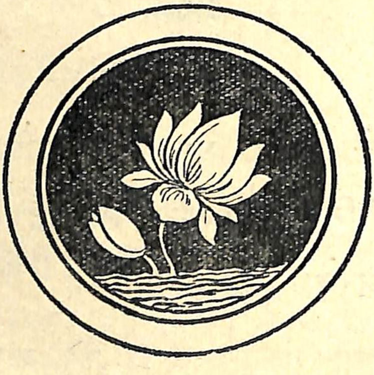
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

हे रुद्र ! तुम कुपित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वोंमें क्षय न करना और हमारे वीर सेवकोंका भी वध न करना । हम हव्य-सामग्रीसे युक्त होकर सर्वदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं ॥२२॥

मा न इति । मा रीरिष इति सर्वत्र संबध्यते । मा रीरिषः । रेषणं मरणं विनाशं मा कार्षीः । नोऽस्माकं तोके पुत्रे तनये पौत्रे न आयुषि मा नो गोषु मा नोऽश्वेषु शरीरिषु । ये चास्माकं वीरा विक्रामन्तो भृत्यास्तान्हे रुद्र भामितः क्रोधितः सन्मा वधीः । कस्मात् ? यस्माद्धविष्मन्तो हविषा युक्ताः सदम् इत् त्वा हवामहे सदैव रक्षणार्थमाह्वयाम इत्यर्थः ॥२२॥

'मा नः' इत्यादि । 'मा रीरिषः' इस क्रियापदका सबके साथ सम्बन्ध है । मा रीरिषः—रेषण—मरण यानी विनाश न करो । हमारे 'तोके'—पुत्रमें 'तनये'—पौत्रमें, आयुमें तथा गौ और अश्व आदि शरीरधारियोंमें भी क्षय न करो । हमारे जो वीर—विक्रमशील सेवक हैं, हे रुद्र ! तुम क्रोधित होकर उनका भी वध न करो । क्यों ? क्योंकि हम हविष्मान्—हविसे युक्त होकर सदा ही तुम्हारा आवाहन करते हैं अर्थात् तुम्हें रक्षाके लिये सर्वदा ही पुकारते हैं ॥२२॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



पञ्चम अध्याय

अक्षराश्रित विद्या-अविद्या और उनके शासक परमेश्वरके स्वरूप तथा माहात्म्यका वर्णन

चतुर्थाध्यायशेषमपूर्वार्थं प्रतिपादयितुं पञ्चमोऽध्याय आरभ्यते द्वे अक्षरे इत्यादिना—

चतुर्थ अध्यायमें अवशिष्ट रहे अपूर्व विषयका प्रतिपादन करनेके लिये 'द्वे अक्षरे' इत्यादि मन्त्रसे पञ्चम अध्याय आरम्भ किया जाता है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भसे उत्कृष्ट अविनाशी और अनन्त परब्रह्ममें जहाँ विद्या और अविद्या दोनों परिच्छिन्नभावसे स्थित हैं [उनमें] क्षर अविद्या है और अमृत विद्या है तथा जो इन विद्या और अविद्या दोनोंका शासन करता है वह इनसे भिन्न है ॥ १ ॥

द्वे विद्याविद्ये यस्मिन्नक्षरे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परे ब्रह्मपरे परस्मिन्वा ब्रह्मण्यनन्ते देशतः कालतो वस्तुतो वापरिच्छिन्ने। यत्र यस्मिन्द्वे विद्याविद्ये निहिते स्थापिते गूढे अनभिव्यक्ते। विद्याविद्ये विविच्य दर्शयति—

जिस अविनाशी एवं अनन्त यानी देश, काल या वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मपरमें—ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भसे उत्कृष्ट अथवा परब्रह्ममें विद्या और अविद्या ये दोनों गूढ यानी अव्यक्तभावसे स्थित हैं। उन विद्या और अविद्याको अलग-अलग करके दिखाते हैं—

क्षरं त्वविद्या क्षरणहेतुः संसृतिकारणम् । अमृतं तु विद्या मोक्षहेतुः । यस्तु पुनर्विद्याविद्ये ईशते नियमयति स ताभ्यामन्यस्तत्साक्षित्वात् ॥ १ ॥

उनमें क्षर—क्षरणकी हेतु यानी संसारकी कारण तो अविद्या है और अमृत यानी मोक्षकी हेतु विद्या है । और जो विद्या और अविद्याका शासन करता है वह उनका साक्षी होनेसे उन दोनोंसे भिन्न है ॥१॥

कोऽसावित्याह—

वह कौन है ? सो बतलाते हैं—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

जो अकेला ही प्रत्येक स्थान तथा सम्पूर्ण रूप और समस्त योनियों (उत्पत्तिस्थानों) का अधिष्ठान है, तथा जिसने सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए कपिल ऋषि (हिरण्यगर्भ) को ज्ञानसम्पन्न किया था और जन्म लेते हुए भी देखा था [वही विद्या और अविद्यासे भिन्न उनका शासक है]॥२॥

यो योनिमिति । यो योनिं योनिं स्थानं स्थानं "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (बृ० उ० ३ । ७ । ३) इत्यादिनोक्तानि पृथिव्यादीन्यधितिष्ठति नियमयति । एकोऽद्वितीयः परमात्मा विश्वानि रोहितादीनि रूपाणि योनीश्च प्रभवस्थानान्यधितिष्ठति । ऋषिं

'यो योनिम्' इत्यादि । जो योनि-योनिको—स्थान-स्थानको अर्थात् "जो पृथिवीमें स्थित होकर [पृथिवीका शासन करता है]" इत्यादि मन्त्रसे कहे हुए पृथिवी आदिको अधिष्ठित—नियमित करता है तथा जो एक—अद्वितीय परमात्मा लोहितादि सम्पूर्ण रूपोंको और योनियों—उत्पत्तिस्थानोंको अधिष्ठित करता है; [जिसने] ऋषि यानी

सर्वज्ञमित्यर्थः । कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वमित्यस्यैव जन्मश्रवणात् । अन्यस्य चाश्रवणात्। उत्तरत्र "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे० उ० ६।१८) इति वक्ष्यमाणत्वात् "कपिलोऽग्रजः" इति पुराणवचनात्कपिलो हिरण्यगर्भो वा निर्दिश्यते—

"कपिलर्षिर्भगवतः
सर्वभूतस्य वै किल ।
विष्णोरंशो जगन्मोह-
नाशाय समुपागतः ॥"
"कृते युगे परं ज्ञानं
कपिलादिस्वरूपधृत् ।
ददाति सर्वभूतात्मा
सर्वस्य जगतो हितम् ॥"
"त्वं शक्रः सर्वदेवानां
ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि ।
वायुर्बलवतां देवो
योगिनां त्वं कुमारकः ॥
ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं
व्यासो वेदविदामसि ।

सर्वज्ञ प्रसूत—अपनेहीसे उत्पन्न किये हुए कपिल—सुवर्णसदृश कपिलवर्ण हिरण्यगर्भको पहले जन्म दिया था, क्योंकि आरम्भमें हिरण्यगर्भका ही जन्म श्रुति प्रतिपादित करती है, अन्य (महर्षि कपिल) का जन्म नहीं बतलाती । कारण, आगे यह कहा जायगा कि "जो आरम्भमें ब्रह्माको रचता है और उसके लिये वेदोंको प्रेरित करता है ।" "कपिल पहले उत्पन्न होनेवाला है" इस पुराणवचनसे भी कपिल या हिरण्यगर्भका ही निर्देश किया गया है ।

"जगत्‌का मोह नष्ट करनेके लिये सर्वभूतमय भगवान् विष्णुके ही अंशस्वरूप मुनिवर कपिलने अवतार लिया है।" "सर्वभूतात्मा श्रीहरि सत्ययुगमें कपिलादिरूप धारण कर सम्पूर्ण जगत्‌के लिये हितकर उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करते हैं।" "तुम समस्त देवताओंमें इन्द्र हो, ब्रह्मवेत्ताओंमें ब्रह्मा हो, बलवानोंमें वायुदेवता हो, योगियोंमें सनत्कुमार हो, ऋषियोंमें वसिष्ठ हो, वेदवेत्ताओंमें व्यास हो,

सांख्यानां कपिलो देवो
रुद्राणामसि शङ्करः ।।"

इति परमर्षिः प्रसिद्धः ।

"ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन्प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोडशास्त्रो पुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात्" इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि । स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले । यो ज्ञानैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैर्बिभर्ति बभार जायमानं च पश्येदपश्यदित्यर्थः ॥ २ ॥

ज्ञानयोगियोंमें कपिलदेव हो और रुद्रोंमें महादेव हो" इत्यादि पुराणवचनोंमें कपिल नामसे महर्षि कपिल ही प्रसिद्ध हैं ।

अथवा "ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन् प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोडशास्त्रः पुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात् ।" इस मुंण्डकोपनिषद्की श्रुतिके अनुसार वह हिरण्यगर्भ ही पूर्वकालमें सृष्टिके समय 'कपिल' नामसे प्रसिद्ध हुआ जिसे परमात्माने अपने ज्ञानोंसे--धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्योंसे युक्त किया और उत्पन्न होते देखा ॥२॥

किञ्च—

तथा—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्व-
न्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

इस संसारक्षेत्रमें यह देव [सृष्टिके समय] एक-एक जालको* अनेक प्रकारसे विकृत कर [अन्तमें] संहार करता है, तथा यह महात्मा

१. यह श्रुति मुण्डकोपनिषद्में नहीं मिलती, अन्यत्र भी उसका पता नहीं चलता । श्रुतिका पाठ भी शुद्ध नहीं जान पड़ता । परम्परासे जैसा पाठ मिला वैसा ही रहने दिया है और अर्थसंगति न लगनेके कारण उसका अनुवाद नहीं किया गया है ।

* 'जाल' शब्दके अर्थ टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये हैं । भगवान्

ईश्वर ही [कल्पान्तरके आरम्भमें] प्रजापतियोंको पुनः उत्पन्न कर सबका आधिपत्य करता है ॥३॥

एकैकमिति । सुरनरतिर्यगादीनां सृजति जालमेकैकं प्रत्येकं बहुधा नानाप्रकारं विकुर्वन्सृष्टिकालेऽस्मिन्मायात्मके क्षेत्रे संहरत्येष देवः । भूयः पुनर्ये लोकानां पतयो मरीच्यादयस्तान्सृष्ट्वा तथा यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सृष्टवानीशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

'एकैकम्' इत्यादि । यह देव इस मायामय क्षेत्रमें सृष्टिके समय देवता, मनुष्य एवं तिर्यगादिके एक-एक जालको नाना प्रकारसे विकृत करके रचता है और फिर संहार कर देता है । फिर यह ईश्वर महात्मा जिस प्रकार इसने पूर्वकल्पमें मरीचि आदि जो लोकाध्यक्ष हैं उन्हें रचा था उसी प्रकार पुनः रचकर उन सबका आधिपत्य करता है ॥३॥

किञ्च—

तथा—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्य-
क्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो
योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

भाष्यकारने इसका कोई अर्थ नहीं किया । श्रीशङ्करानन्दजी लिखते हैं—'जालं महेन्द्रजालं संसाररूपं प्रतिप्राणिव्यवस्थितमित्यर्थः' अर्थात् 'जाल शब्दका तात्पर्य है प्रत्येक प्राणीसे सम्बन्ध रखनेवाला संसाररूप महान् इन्द्रजाल ।' श्रीनारायणतीर्थ कहते हैं—'जालं कर्मफललक्षणं बन्धम्' अर्थात् 'कर्मफलरूप बन्धन ही जाल है ।' तथा विज्ञानभगवान्का कथन है—'जालं समष्टिरूपकार्यकरणलक्षणानि जालानि पुरुषमत्स्यानां बन्धनत्वाज्जालवज्जालम्' अर्थात् समष्टिरूप भूत और इन्द्रियवर्गरूप जाल ही पुरुषरूप मत्स्योंको बाँधनेवाले होनेसे जालके समान जाल हैं ।'

जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है वैसे ही यह ऊपर, नीचे तथा इधर-उधर समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है। इस प्रकार वह द्योतनस्वभाव सम्भजनीय भगवान् अकेला ही कारणभूत पृथिवी आदिका* नियमन करता है ॥४॥

सर्वा दिश इति। सर्वा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वमुपरिष्टादधश्चाधस्तात्तिर्यक्पार्श्वदिशश्च प्रकाशयन् स्वात्मचैतन्यज्योतिषा प्रकाशते भ्राजते दीप्यते ज्योतिषा यदु अनड्वान्यद्वदित्यर्थः। यथानड्वानादित्यो जगच्चक्रावभासने युक्त एवं स देवो द्योतनस्वभावो भगवानैश्वर्यादिसमन्वितो वरेण्यो वरणीयः संभजनीयो योनिः कारणं कृत्स्नस्य जगतः स्वभावान् स्वात्मभूतान्पृथ्व्यादीन्भावानथवा कारणस्वभावान्कारणभूतान्पृथिव्यादीनधितिष्ठति नियमयति। एकोऽद्वितीयः परमात्मा ॥४॥

'सर्वा दिशः' इत्यादि। यह पूर्वादि समस्त दिशाओंको अर्थात् ऊपर-नीचे और इधर-उधरकी दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ अपने स्वरूपभूत चित्प्रकाशसे भ्राजित यानी दीप्त होता है जैसे कि अनड्वान्। और जिस प्रकार कि अनड्वान् यानी सूर्य जगच्चक्रको प्रकाशित करनेमें लगा हुआ है उसी प्रकार वह देव—द्योतनस्वभाव, भगवान्—ऐश्वर्यादिसम्पन्न और वरेण्य—वरणीय—सम्भजनीय योनि यानी कारण एक अद्वितीय परमात्मा सम्पूर्ण जगत्के स्वभाव यानी स्वात्मभूत पृथिवी आदि भावोंको [अधिष्ठित करता है]। अथवा ['योनिस्वभावान्' ऐसा समस्त पद माना जाय तो] कारण-स्वभाव यानी कारणभूत पृथिवी आदिको अधिष्ठित—नियमित करता है ॥ ४ ॥

---

* यह अर्थ मूलपाठ 'योनिस्वभावान्' मानकर किया गया है, जहाँ मूलमें 'योनिः स्वभावान्' ऐसा पाठ है वहाँ 'योनिः' शब्द भगवान्‌का विशेषण होगा और 'स्वभावान्' का अर्थ 'स्वात्मभूतान् पृथिव्यादीन् भावान्' (अपने स्वरूपभूत पृथिवी आदि भावोंको) होगा।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको
गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥

जगत्का कारणभूत जो परमात्मा [प्रत्येक वस्तुके] स्वभावको निष्पन्न करता है, जो पाच्यों (परिणामयोग्य पदार्थों) को परिणत करता है, जो अकेला ही इस सम्पूर्ण विश्वका नियमन करता है, और जो [सत्त्वादि] समस्त गुणोंको उनके कार्योंमें नियुक्त करता है [वह परब्रह्म है] ॥ ५ ॥

यच्च स्वभावमिति । यच्च यश्चेति लिङ्गव्यत्ययः । स्वभावं यदग्नेरौष्ण्यं पचति निष्पादयति विश्वस्य जगतो योनिः । पाच्यांश्च पाकयोग्यान्पृथिव्यादीन्परिणामयेद्यः । सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठति नियमयत्येकः । गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्विनियोजयेद्यः । एवंलक्षणः ॥ ५ ॥

'यच्च स्वभावम्' इत्यादि । [यहाँ वैदिक-प्रक्रियानुसार] 'यश्च' इस पुँल्लिङ्गके स्थानमें 'यच्च' इस प्रकार लिङ्गव्यत्यय हुआ है । जो स्वभावको यानी अग्निके उष्णत्वको पचाता—निष्पन्न करता है, विश्व—जगत्का कारण है और पाच्य यानी पाक (परिणाम) योग्य पृथिवी आदिका परिणाम करता है, जो अकेला इस सम्पूर्ण विश्वको अधिष्ठित—नियमित करता है तथा जो सत्त्व, रज एवं तमोरूप गुणोंको नियुक्त करता है—ऐसे लक्षणोंवाला परमात्मा है ॥ ५ ॥

किञ्च—

तथा—

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।

ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

वह वेदोंके गुह्यभाग उपनिषदोंमें निहित है, उस वेदवेद्य परमात्माको ब्रह्मा जानता है। जो पुरातन देव और ऋषिगण उसे जानते थे वे तद्रूप होकर अमर ही हो गये थे ॥ ६ ॥

तदिति। तत्प्रकृतमात्मस्वरूपं वेदानां गुह्योपनिषदो वेदगुह्योपनिषदस्तासु वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं संवृतम्। ब्रह्मा हिरण्यगर्भो वेदते जानाति ब्रह्मयोनिं वेदप्रमाणकमित्यर्थः। अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य योनिं वेदस्य वा ये पूर्वदेवा रुद्रादय ऋषयश्च वामदेवादयस्तद्विदुस्ते तन्मयास्तदात्मभूताः सन्तोऽमृता अमरणधर्माणो बभूवुः। तथेदानीन्तनोऽपि तमेव विदित्वामृतो भवतीति वाक्यशेषः ॥ ६ ॥

'तद्वेद' इत्यादि। उस प्रकृत आत्माका स्वरूप वेदोंके गुह्यभाग जो उपनिषद् हैं उन वेदगुह्योपनिषदोंमें गूढ—छिपा हुआ है। उस ब्रह्मयोनि यानी वेदप्रमाणक आत्माको ब्रह्मा जानता है, अथवा ब्रह्म यानी हिरण्यगर्भके कारण अथवा वेदके कारणभूत उस आत्माको जो रुद्रादि पूर्वदेव और वामदेवादि ऋषिगण जानते थे वे तन्मय—तत्स्वरूप होकर अमृत—अमरणधर्मा हो गये। इसी प्रकार आधुनिक पुरुष भी उसे जानकर अमर हो जाता है—यह वाक्यशेष है ॥ ६ ॥

कर्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त जीवात्माके स्वरूपका वर्णन

एतावता तत्पदार्थ उपवर्णितः। अथेदानीं त्वंपदार्थमुपवर्णयितुमुत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते—

इतने ग्रन्थसे तत्पदार्थका वर्णन किया गया। अब यहाँसे त्वंपदार्थका निरूपण करनेके लिये आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

जो गुणोंसे सम्बद्ध, फलप्रद कर्मका कर्ता और उस किये हुए कर्मका उपभोग करनेवाला है, वह विभिन्न रूपोंवाला, त्रिगुणमय, तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला प्राणोंका अधिष्ठाता अपने कर्मोंके अनुसार गमन करता है ॥ ७ ॥

गुणान्वय इति । गुणैः कर्मज्ञानकृतवासनामयैरन्वयो यस्य सोऽयं गुणान्वयः । फलार्थस्य कर्मणः कर्ता कृतस्य कर्मफलस्य स एवोपभोक्ता । स विश्वरूपो नानारूपः कार्यकारणोपचितत्वात् । त्रयः सत्त्वादयो गुणा अस्येति त्रिगुणः । त्रयो देवयानादयो मार्गभेदा अस्येति त्रिवर्त्मा धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति वा । प्राणस्य पञ्चवृत्तेरधिपः संचरति । कैः ? स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

'गुणान्वयः' इत्यादि । जिसका कर्म एवं ज्ञानजनित वासनामय गुणोंके साथ सम्बन्ध है वह यह जीव गुणान्वय है । वह फलके लिये कर्म करनेवाला है और वही किये हुए कर्मका फल भोगनेवाला भी है । कार्यकारणभावसे [नाना देह धारण करके] वृद्धिको प्राप्त होनेसे वह विश्वरूप—नाना रूप है । सत्त्वादि तीनों गुण इसीके हैं इसलिये यह त्रिगुण है । इसके देवयानादि तीन मार्गभेद हैं अथवा धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप इसके तीन मार्ग हैं इसलिये यह त्रिवर्त्मा है । यह पाँच वृत्तियोंवाले प्राणका अधिपति सञ्चार करता है । किनके द्वारा ?—अपने कर्मोंके द्वारा ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

जो अँगूठेके बराबर परिमाणवाला, सूर्यके समान ज्योतिःस्वरूप, संकल्प और अहंकारसे युक्त तथा बुद्धि और शरीरके गुणोंसे भी युक्त है वह अन्य (जीव) भी आरकी नोंकके बराबर आकारवाला देखा गया है ॥८॥

अङ्गुष्ठमात्र इति । अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमितहृदयसुषिरापेक्षया । रवितुल्यरूपो ज्योतिःस्वरूप इत्यर्थः । सङ्कल्पाहङ्कारादिना समन्वितो बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन च जरादिना । उक्तं च "जरामृत्यू शरीरस्य" इति । आराग्रमात्रः प्रतोदाग्रप्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रोऽपरोऽपि ज्ञानात्मनात्मा दृष्टोऽवगतः । अपिशब्दः सम्भावनायाम् । अपरोऽप्यौपाधिको जलसूर्य इव जीवात्मा संभावित इत्यर्थः ॥८॥

'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यादि । अङ्गुष्ठमात्र अर्थात् हृदयगुहाकी अपेक्षासे अँगूठेके बराबर परिमाणवाला, रवितुल्यरूप अर्थात् ज्योतिःस्वरूप, बुद्धिके गुण सङ्कल्प और अहंकारादिसे युक्त तथा शरीरके गुण जरादिसे भी सम्पन्न; "जरा और मृत्यु शरीरके धर्म हैं" ऐसा कहा भी है । आराग्रमात्र—कोड़ेके अग्रभागमें लगा हुआ जो लोहेका काँटा होता है उसकी नोंकके बराबर अन्य भी यानी आत्मा भी ज्ञानस्वरूपसे देखा—जाना गया है । यहाँ 'अपि' शब्द सम्भावनामें है; तात्पर्य यह है कि जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान उपाधिसे अन्य जीवात्मा भी होना सम्भव है ॥८॥

पुनरपि दृष्टान्तान्तरेण दर्शयति—

एक दूसरे दृष्टान्तसे श्रुति फिर भी दिखाती है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

सौ भागोंमें विभक्त किया हुआ जो केशके अग्रभागका सौवाँ भाग है उस जीवको उसके बराबर जानना चाहिये; किन्तु वही अनन्तरूप हो जाता है ॥ ९ ॥

वालाग्रेति । वालाग्रस्य शतकृत्वो भेदमापादितस्य यो भागस्तस्यापि शतधा कल्पितस्य भागो जीवः स विज्ञेयः । लिङ्गस्यातिसूक्ष्मत्वात् तत्परिमाणेनायं व्यपदिश्यते । स च जीवस्वरूपेण, आनन्त्याय कल्पते स्वतः॥९॥

'वालाग्र०' इत्यादि । सौ भागोंमें विभक्त किये केशके अग्रभागका जो एक भाग है उसके भी सौ भाग किये जानेपर जो भाग होता है उसके समान जीवको समझना चाहिये । लिङ्गदेह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये उसके परिमाणके अनुसार ही इसका परिमाण बतलाया जाता है । जीवस्वरूपसे वह ऐसा है, किन्तु स्वतः (अपने परमार्थरूपसे) वही अनन्त हो जाता है ॥ ९ ॥

किञ्च—

तथा—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

यह [विज्ञानात्मा] न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है । यह जो-जो शरीर धारण करता है उसी-उसीसे सुरक्षित रहता है ॥१०॥

नैव स्त्रीति । स्वतोऽद्वितीयापरोक्षब्रह्मात्मस्वभावत्वान्नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः ।

'नैव स्त्री' इत्यादि । स्वयं साक्षात् अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण यह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है । यह जिस-

यद्यत्स्त्रीशरीरं पुरुषशरीरं नपुंसकशरीरं वादत्ते तेन तेन स च विज्ञानात्मा रक्ष्यते संरक्ष्यते तत्तद्धर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्र्यहं नपुंसकोऽहमिति ॥१०॥

जिस स्त्रीशरीर, पुरुषशरीर अथवा नपुंसकशरीरको धारण करता है उसी-उसीसे यह विज्ञानात्मा रक्षित-सुरक्षित रहता है, अर्थात् उसी-उसी शरीरके धर्मोंको अपनेमें आरोपित कर ऐसा मानने लगता है कि 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ' इत्यादि ॥१०॥

जीवको कर्मोंके अनुसार विविध देहकी प्राप्तिका निर्देश

केन तर्ह्यसौ शरीराण्यादत्ते ? इत्याह—

तो फिर यह किस कारणसे शरीर धारण करता है ? सो बतलाते हैं—

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥ ११ ॥

जिस प्रकार अन्न और जलके सेवनसे शरीरकी वृद्धि होती है वैसे ही संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोहसे [कर्म होते हैं । फिर] यह देही क्रमशः [विभिन्न] योनियोंमें जाकर उन कर्मोंके अनुसार रूप धारण करता है ॥ ११ ॥

सङ्कल्पनेति । प्रथमं सङ्कल्पनम् । ततः स्पर्शनं त्वगिन्द्रिय-

'सङ्कल्पन०' इत्यादि । पहले सङ्कल्प होता है, फिर स्पर्श यानी त्वगिन्द्रियका व्यापार होता है,

व्यापारः । ततो दृष्टिविधानम् । ततो मोहः । तैः सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः शुभाशुभानि कर्माणि निष्पद्यन्ते । ततः कर्मानुगानि कर्मानुसारीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणान्यनुक्रमेण परिपाकापेक्षया देही मर्त्यः स्थानेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते । तत्र दृष्टान्तमाह—ग्रासाम्बुनोरन्नपानयोरनियतयोर्वृष्टिरासेचनं निदानमात्मनः शरीरस्य वृद्धिर्जायते यथा तद्वदित्यर्थः ॥११॥

तत्पश्चात् दृष्टि जाती है, उससे पीछे मोह होता है । उन संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोहसे शुभाशुभ कर्म सम्पन्न होते हैं । फिर कर्मानुगत यानी कर्मोंके अनुसार अनुक्रमसे—कर्मविपाककी अपेक्षासे यह देही—जीव स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकादि रूपोंको देवता, तिर्यक् एवं मनुष्यादि स्थानों (योनियों) में प्राप्त करता है । उसमें दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार ग्रास और अम्बु यानी अनियत अन्न और जलकी वृष्टि—उनका सम्यक् सेचन आत्माका निदान है अर्थात् उससे शरीरकी वृद्धि होती है उसी प्रकार [जीवको कर्मोंके द्वारा तदनुकूल शरीरोंकी प्राप्ति होती है]—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

जीव अपने गुणों (पाप पुण्यों) के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म बहुत-से देह धारण करता है । फिर उन (शरीरों) के कर्मफल और मानसिक संस्कारोंके द्वारा उनके संयोग (देहान्तरप्राप्ति) का दूसरा हेतु भी देखा गया है ॥ १२ ॥

स्थूलानीति । तानि च स्थूलान्यश्मादीनि सूक्ष्माणि तैजसधातुप्रभृतीनि बहूनि देवादिशरीराणि देही विज्ञानात्मा स्वगुणैर्विहितप्रतिषिद्धविषयानुभवसंस्कारैर्वृणोत्यावृणोति । ततस्तत्तत्क्रियागुणैरात्मगुणैश्च स देह्यपरोऽपि देहान्तरसंयुक्तो भवतीत्यर्थः ॥१२॥

'स्थूलानि' इत्यादि । देही—विज्ञानात्मा अपने गुण यानी विहित और प्रतिषिद्ध विषयोंके अनुभवसे प्राप्त हुए संस्कारोंके द्वारा बहुत-से यानी पाषाणादि स्थूल और तैजस धातु आदि सूक्ष्म देवादि-शरीर धारण करता है । फिर वह देही उन-उन शरीरोंके कर्मफल और मानसिक संस्कारोंके द्वारा अन्य रूप हो जाता है अर्थात् देहान्तरसे युक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

परमात्मतत्त्वके जाननेसे जीवकी मुक्तिका कथन

स एवमविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सान्द्रजलनिमग्नो निश्चयेन देहाहंभावमापन्नः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजीवं जीवभावमापन्नः कथञ्चित्पुण्यवशादीश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमदमादिसाधनसंपन्नस्तमात्मानं ज्ञात्वा मुच्यत इत्याह—

अब श्रुति यह बतलाती है कि इस प्रकार गम्भीर जलमें डूबे हुए तूँबेके समान अविद्या, काम, कर्मफल और रागादिके भारी भारसे आक्रान्त होनेके कारण अपने निश्चयसे देहात्मभावसे ही युक्त हुआ जीव प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें जीवनपर्यन्त जीवभावमें ही स्थित हुआ किसी प्रकार पुण्यवश ईश्वरार्थ कर्म करनेसे रागादिमलसे शुद्ध हो जानेपर जब अनित्यत्वादि दोष-दृष्टि करनेसे ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगसे विरक्त और शम-दमादि साधनसम्पन्न होता है तब उस आत्माको जानकर वह मुक्त हो जाता है—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

इस गहन संसारके भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्वके रचयिता, अनेकरूप, विश्वको एकमात्र व्याप्त करनेवाले देवको जानकर जीव समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

अनाद्यनन्तमिति । अनाद्यनन्तमाद्यन्तरहितं कलिलस्य मध्ये गहनगभीरसंसारस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमुत्पादयितारमनेकरूपं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं स्वात्मना संव्याप्यावस्थितं ज्ञात्वा देवं ज्योतीरूपं परमात्मानं मुच्यते सर्वपाशैरविद्याकामकर्मभिः ॥१३॥

'अनाद्यनन्तम्' इत्यादि । कलिलके मध्यमें यानी अत्यन्त गम्भीर संसारके मध्यमें अनाद्यनन्त—आदि-अन्तसे रहित, विश्वकी सृष्टि—उत्पत्ति करनेवाले, अनेकरूप, विश्वके एकमात्र परिवेष्टा अर्थात् अपने स्वरूपसे विश्वको व्याप्त करके स्थित हुए, देव—ज्योतिःस्वरूप परमात्माको जानकर जीव समस्त पाशोंसे यानी अविद्या, काम एवं कर्मादिसे मुक्त हो जाता है ॥१३॥

केन पुनरसौ गृह्यते ? इत्याह—

किन्तु यह किसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, सो बतलाते हैं—

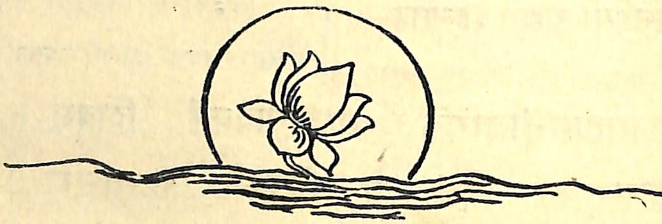
भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्य, अशरीरसंज्ञक, सृष्टि और प्रलय करनेवाले, शिवस्वरूप एवं कलाओंकी रचना करनेवाले इस देवको जो जान लेते हैं वे शरीर (देहबन्धन) को त्याग देते हैं ॥ १४ ॥

भावग्राह्यमिति । भावेन विशुद्धान्तःकरणेन गृह्यत इति भावग्राह्यम् । अनीडाख्यं नीडं शरीरमशरीराख्यम् । भावाभावकरं शिवं शुद्धमविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तमित्यर्थः । कलानां षोडशानां प्राणादिनामान्तानाम् "स प्राणमसृजत" (प्र० उ० ६ । ४) इत्यादिनाथर्वणोक्तानां सर्गकरं देवं ये विदुरहमस्मीति ते जहुः परित्यजेयुस्तनुं शरीरम् ॥१४॥

'भावग्राह्यम्' इत्यादि । भाव—विशुद्ध अन्तःकरणसे ग्रहण किया जाता है इसलिये जो भावग्राह्य है, अनीडाख्य—नीड शरीरको कहते हैं अतः अशरीर नामवाले, भाव और अभाव (सृष्टि और प्रलय) करनेवाले, शिव—शुद्ध अर्थात् अविद्या और उसके कार्यसे रहित, कला सर्गकर—"उसने प्राणकी रचना की" इत्यादि वाक्यसे अथर्वण (प्रश्न) श्रुतिमें कही हुई प्राणसे लेकर नामपर्यन्त सोलह कलाओंके रचयिता उस देवको जो 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जानते हैं वे तनु—शरीरको त्याग देते हैं * ॥१४॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥



* अर्थात् फिर उनका शरीरान्तरसे सम्बन्ध नहीं होता, वे मुक्त हो जाते हैं ।

षष्ठ अध्याय

परमेश्वरकी महिमासे सृष्टिचक्रका सञ्चालन

नन्वन्ये कालादयः कारणम् इति मन्यन्ते । तत्कथं पुनरीश्वरस्य कलासर्गकरत्वमित्याशङ्क्याह--

किन्तु अन्य मतावलम्बी तो कालादिको कारण मानते हैं, फिर ईश्वर किस प्रकार कलाओंकी सृष्टि करनेवाला हो सकता है ?--ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

कोई बुद्धिमान् तो स्वभावको कारण बतलाते हैं और दूसरे कालको । किन्तु ये मोहग्रस्त हैं [अतः ठीक नहीं जानते] । यह भगवान्की महिमा ही है, जिससे लोकमें यह ब्रह्मचक्र घूम रहा है ॥ १ ॥

स्वभावमिति । स्वभावमेके कवयो मेधाविनो वदन्ति । कालं तथान्ये । कालस्वभावयोर्ग्रहणं प्रथमाध्याये निर्दिष्टाना-

'स्वभावम्' इत्यादि । कोई कवि—मेधावी स्वभावको [कारण] बतलाते हैं तथा दूसरे कालको । यहाँ काल और स्वभावका ग्रहण प्रथम अध्यायमें बतलाये हुए अन्य

१. ब्रह्मचक्र अर्थात् संसाररूपमें विवर्तित ब्रह्मरूप चक्र, जिसका वर्णन प्रथम अध्यायके चतुर्थ मन्त्रमें किया है ।

मन्येषामप्युपलक्षणार्थम् । परिमुह्यमाना अविवेकिनो विषयात्मानो न सम्यग्जानन्ति । तुशब्दोऽवधारणे । देवस्यैष महिमा माहात्म्यम् । येनेदं भ्राम्यते परिवर्तते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

कारणोंको भी उपलक्षित करनेके लिये किया गया है । ये स्वभाव और कालवादी परिमुह्यमान—अविवेकी यानी विषयी होनेके कारण यथार्थ नहीं जानते । 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । यह तो देव (परमेश्वर) की महिमा है, जिससे यह ब्रह्मचक्र भ्रमित—परिवर्तित होता है [अर्थात् सब ओर घूम रहा है] ॥ १ ॥

चिन्तनीय परमेश्वरका स्वरूप तथा उसकी महिमा

महिमानं प्रपञ्चयति—

उस महिमाका निरूपण करते हैं—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

जिसके द्वारा सर्वदा यह सब व्याप्त है तथा जो ज्ञानस्वरूप, कालका भी कर्ता, निष्पापत्वादि गुणवान् और सर्वज्ञ है उसीसे प्रेरित होकर यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाशरूप कर्म [जगद्रूपसे] विवर्तित होता है; [अतः उसका चिन्तन करना चाहिये] ॥ २ ॥

येनेति । येनेश्वरेणावृतं व्याप्तमिदं जगन्नित्यं नियमेन । ज्ञः कालकारः कालस्यापि कर्ता ।

'येन' इत्यादि । जिस ईश्वरके द्वारा यह जगत् नित्य—नियमसे व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप, कालकार—कालका भी कर्ता, गुणी—

गुण्यपहतपाप्मादिमान् । सर्वं वेत्तीति सर्वविद्यः। तेनेश्वरेणेशितं प्रेरितं कर्म क्रियत इति कर्म स्त्रजीव फणी । हशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः । प्रसिद्धं यदेतदीश्वरप्रेरितं कर्म जगदात्मना विवर्तत इति यत्पुनस्तत्कर्म पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि पृथिव्यादिभूतपञ्चकम् ॥ २ ॥

अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सबको जाननेके कारण सर्वज्ञ है। उस ईश्वरसे ईशित--प्रेरित कर्म। जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, 'ह' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है। अर्थात् यह जो ईश्वरप्रेरित प्रसिद्ध कर्म है वह मालामें सर्पके समान जगद्रूपसे विवर्तित होता है। और वह जो कर्म है सो पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशरूप है अर्थात् पृथिवी आदि पञ्चभूत है ॥ २ ॥

यत्प्रथमाध्याये चिन्त्यमित्युक्तम्, एतदेव प्रपञ्चयति—

प्रथम अध्यायमें जिसे चिन्तनीय बतलाया है उसीका निरूपण करते हैं—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

उस कर्मको करके उसका निरीक्षण कर फिर जो उस तत्त्वके साथ यानी एक, दो, तीन या आठ तत्त्वोंके[1] साथ अथवा काल और अन्तःकरणके सूक्ष्म गुणोंके साथ अपने [सत्तारूप] गुणका योग कराकर [स्वयं स्थित रहता है उसका चिन्तन करना चाहिये] ॥ ३ ॥

---

१. श्रीशंकरानन्दजीके मतानुसार एक तत्त्व अविद्या है, दो धर्म और अधर्म हैं, तीन सत्त्वादि त्रिगुण हैं और मन, बुद्धि तथा अहंकारके सहित पाँच भूत आठ तत्त्व हैं। भाष्यमें भी आठ तत्त्व तो ये ही माने गये हैं।

तदिति। तत्कर्म पृथिव्यादि सृष्ट्वा विनिवर्त्य प्रत्यवेक्षणं कृत्वा भूयः पुनस्तस्यात्मनस्तत्त्वेन भूम्यादिना योगं समेत्य संगमय्य। णिलोपो द्रष्टव्यः। कतिविधैः प्रकारैः। एकेन पृथिव्या द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा प्रकृतिभूतैस्तत्त्वैः। तदुक्तम्—

"भूमिरापोऽनलो वायुः
खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"
(गीता ७।४)

इति। कालेन चैवात्मगुणैश्चान्तःकरणगुणैः कामादिभिः सूक्ष्मैः॥ ३॥

'तत्कर्म' इत्यादि। उस पृथिवी आदि कर्मको रचकर उसका निरीक्षण कर फिर उस आत्माका पृथिवी आदि तत्त्वके साथ योग कराकर—यहाँ (समेत्यमें) प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्ययका लोप समझना चाहिये। कितने प्रकारके तत्त्वोंके साथ? पृथिवीरूप एक तत्त्वके अथवा दो, तीन या अष्टधा प्रकृतिरूप आठ तत्त्वोंके साथ। इस विषयमें [गीतामें] ऐसा कहा है—"पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह मेरी आठ प्रकारकी विभिन्न प्रकृति है।" अथवा कालके और आत्मगुणोंके यानी अन्तःकरणके कामादि सूक्ष्म गुणोंके साथ॥ ३॥

भगवदर्पणकर्मसे भगवत्प्राप्ति

इदानीं कर्मणां मुख्यं विनियोगं दर्शयति—

अब श्रुति कर्मोंका मुख्य विनियोग दिखलाती है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो पुरुष सत्त्वादि गुणमय कर्म आरम्भ कर उन्हें और समस्त भावोंको परमात्माके अर्पण कर देता है, उनके सम्बन्धका अभाव हो जानेसे उसके पूर्वकृत कर्मोंका नाश हो जाता है; और कर्मोंका क्षय हो जानेपर वह [परमात्माको] प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह तत्त्वतः उन [पृथिवी आदि] से अन्य है ॥ ४ ॥

आरभ्येति । आरभ्य कृत्वा कर्माणि गुणैः सत्त्वादिभिरन्वितानि भावांश्चात्यन्तविशेषान्विनियोजयेदीश्वरे समर्पयेद्यः । तेषामीश्वरे समर्पितत्वादात्मसंबन्धाभावस्तदभावे पूर्वकृतकर्मणां नाशः । उक्तं च—

"यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।"

(गीता ९ । २७-२८)

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा ।

'आरभ्य' इत्यादि । गुण अर्थात् सत्त्वादिसे युक्त कर्मोंको करके उन्हें तथा अपने अत्यन्त विशिष्ट भावोंको जो विनियुक्त करता है अर्थात् ईश्वरको समर्पित कर देता है, ईश्वरको समर्पित कर देनेसे उन कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध न रहनेसे पूर्वकृत कर्मोंका नाश हो जाता है । कहा भी है—

"हे कुन्तीनन्दन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो खाता है, जो श्रौत-स्मार्त यज्ञरूप हवन करता है, जो देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर दे । इस प्रकार कर्मोंको मुझे समर्पण करके तू शुभाशुभ फलयुक्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जायगा ।" "जो पुरुष कर्मोंको ब्रह्मार्पण करते हुए फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है वह जलसे कमलके पत्तेके समान पापसे लिप्त

काथेन मनसा बुद्ध्या
केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥"
(गीता ५ । १०, ११)
इति ।
कर्मक्षये विशुद्धसत्त्वो याति तत्त्वतोऽन्यस्तत्त्वेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽन्योऽविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनावगच्छन्नित्यर्थः। अन्यदिति पाठे तत्त्वेभ्यो यदन्यद्ब्रह्म तद्यातीति ॥ ४ ॥

नहीं होता। योगिजन फलविषयक आसक्ति त्यागकर केवल (ममतारहित) शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंसे ही चित्तशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं" इत्यादि।

कर्मका क्षय हो जानेसे वह शुद्धचित्त हो तत्त्वतः प्रकृतिरूप तत्त्वोंसे भिन्न होनेके कारण अविद्या और उसके कार्यसे छूटकर अपनेको सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे जानते हुए [परमात्माको] प्राप्त होता है। जहाँ 'अन्यः' के स्थानमें 'अन्यत्' पाठ हो वहाँ 'तत्त्वोंसे भिन्न जो ब्रह्म है उसे प्राप्त होता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ४ ॥

उपासनासे भगवत्प्राप्ति

उक्तस्यार्थस्य द्रढिम्न उत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते कथं नाम विषयान्धा ब्रह्म जानीयुरित्यत आह—

उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये आगेके मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं। विषयान्ध पुरुष भी किसी प्रकार ब्रह्मको जान जायँ इस उद्देश्यसे श्रुति कहती है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

वह सबका कारण, शरीरसंयोगकी निमित्तभूता अविद्याका हेतु, त्रिकालातीत और कलाहीन देखा गया है । अपने अन्तःकरणमें स्थित उस सर्वरूप एवं संसाररूप देवकी ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व उपासना कर [उसे प्राप्त हो जाता है] ॥ ५ ॥

आदिरिति । आदिः कारणं सर्वस्य, शरीरसंयोगनिमित्तानामविद्यानां हेतुः । उक्तं च—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति ......एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च" (कौ० उ० ३ । ९) इति । परस्त्रिकालादतीतानागतवर्तमानात् । उक्तं च—"यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० उ० ४ । ४ । १६) इति । कस्मात्? यस्मादकलोऽसौ न विद्यन्ते कलाः प्राणादिनामान्ता अस्येत्यकलः । कलावद्धि कालत्रयपरिच्छिन्नमुत्पद्यते विनश्यति च । अयं पुनरकलो निष्प्रपञ्चः । तस्मान्न कालत्रयपरिच्छिन्नः सन्नुत्पद्यते विनश्यति च । तं विश्वानि रूपाण्यस्येति विश्वरूपम् । मन्त्रय-

'आदिः' इत्यादि । आदि—सबका कारण; शरीरसंयोगकी निमित्तभूता अविद्याका हेतु; कहा भी है—"यही इससे शुभ कर्म कराता है, और यही इससे अशुभ कर्म कराता है।" भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंसे अतीत; जैसे कहा है—"जिसके नीचे संवत्सर दिनोंके द्वारा परिवर्तित होता है, देवगण उसकी ज्योतियोंके ज्योति, आयु और अमृतरूपसे उपासना करते हैं।" क्यों त्रिकालातीत है?—क्योंकि यह अकल है—इसके प्राणसे लेकर नामपर्यन्त कलाएँ नहीं हैं, इसलिये यह अकल है । कलावान् पदार्थ ही तीनों कालोंसे परिच्छिन्न होनेके कारण उत्पन्न और नष्ट होता है । किन्तु यह तो अकल यानी निष्प्रपञ्च है, इसलिये कालत्रयसे परिच्छिन्न न होनेके कारण उत्पन्न या नष्ट नहीं होता । उस विश्वरूप—जिसके विश्व (समस्त) रूप हैं, भव—जिससे जगत् उत्पन्न होता है, भूत—

स्यादिति भवः । भूतमवितथस्वरूपम् । ईड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्यायमहमस्मीति समाधानं कृत्वा पूर्वं वाक्यार्थज्ञानोदयात् ।।५।।

सत्यस्वरूप, अपने चित्तमें स्थित, स्तुत्य देवको पूर्व—वाक्यार्थज्ञान उदय होनेसे पहले उपासना कर अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार उसमें चित्त समाहित कर [उसे प्राप्त हो जाता है] ॥ ५ ॥

ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति

पुनरपि तमेव दर्शयति—

फिर भी श्रुति उसे ही दिखलाती है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

वह, जिससे कि यह प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, वृक्षाकार और कालाकारसे अतीत तथा प्रपञ्चसे भिन्न है । धर्मकी प्राप्ति करानेवाले और पापका नाश करनेवाले उस ऐश्वर्यके अधिपतिको जानकर [पुरुष] आत्मस्थ, अमृतस्वरूप और विश्वाधार [परमात्माको प्राप्त हो जाता है] ॥६॥

स वृक्षेति । स वृक्षाकारेभ्यः। कालाकारेभ्यः परो वृक्षकालाकृतिभिः परः । वृक्षः संसारवृक्षः । उक्तं च—"ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सना-

'स वृक्षः' इत्यादि । वह वृक्षाकार और कालाकारसे पर (उत्कृष्ट) है, 'वृक्ष' शब्दसे यहाँ संसारवृक्ष समझना चाहिये; कहा भी है—"ऊपरकी ओर मूल और नीचेकी ओर शाखाओंवाला यह सनातन अश्वत्थ

तनः" (क० उ० २ । ३ । १) इति । अन्यः प्रपञ्चासंस्पृष्ट इत्यर्थः । यस्मादीश्वरात् प्रपञ्चः परिवर्तते । धर्मावहं पापनुदं भगस्यैश्वर्यादेरीशं स्वामिनं ज्ञात्वात्मस्थमात्मनि बुद्धौ स्थितममृतममरणधर्माणं विश्वधाम विश्वस्याधारभूतं याति । स तत्त्वतोऽन्य इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ६ ॥

वृक्ष है" इत्यादि । अन्य अर्थात् प्रपञ्चसे असंस्पृष्ट है । जिस ईश्वरसे प्रपञ्च प्रवृत्त होता है, धर्मकी प्राप्ति करानेवाले और पापका उच्छेद करनेवाले उस भग यानी ऐश्वर्यादिके स्वामीको जानकर [पुरुष] आत्मस्थ—आत्मा यानी बुद्धिमें स्थित, अमृत—अमरणधर्मा, विश्वधाम—विश्वके आधारभूत परमात्माको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि 'वह (जीव) पृथिवी आदि तत्त्वोंसे भिन्न है'—इस वाक्यका सबके साथ सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

ज्ञानियोंके तत्त्वानुभवका उल्लेख

इदानीं विद्वदनुभवं दर्शयन्नुक्तमर्थं द्रढीकरोति—

अब विद्वान्‌का अनुभव दिखलाते हुए श्रुति उपर्युक्त अर्थको पुष्ट करती है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥

ईश्वरोंके परम महान् ईश्वर, देवताओंके परमदेव, पतियोंके परमपति, अव्यक्तादि परसे पर तथा विश्वके अधिपति उस स्तवनीय देवको हम जानते हैं ॥ ७ ॥

तमीश्वराणामिति। तमीश्वराणां वैवस्वतयमादीनां परमं महेश्वरं तं देवतानामिन्द्रादीनां परमं च दैवतं पतिं पतीनां प्रजापतीनां परमं परस्तात्परतोऽक्षरात्। विदाम देवं द्योतनात्मकं भुवनानामीशं भुवनेशम्। ईड्यं स्तुत्यम्॥७॥

'तमीश्वराणाम्' इत्यादि। उस वैवस्वत यमादि ईश्वरों (लोकपालों) के परम महेश्वर, इन्द्रादि देवताओंके परम देव, पतियों—प्रजापतियोंके परम पति, पर—अक्षरसे पर, भुवनोंके ईश्वर, देव—द्योतनात्मक, ईड्य—स्तुत्य [परमात्माको] हम जानते हैं॥७॥

परमेश्वरकी महत्ता

कथं महेश्वरत्वम्? इत्याह—

उसकी महेश्वरता किस प्रकार है, सो बतलाते हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥८॥

उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई दिखायी नहीं देता, उसकी पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है॥८॥

न तस्येति। न तस्य कार्यं शरीरं करणं चक्षुरादि विद्यते। न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते श्रूयते वा। परास्य शक्तिर्विविधैव

'न तस्य' इत्यादि। उसके कार्य—शरीर और करण—चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं। उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई देखा या सुना नहीं जाता। उसकी पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती

श्रूयते । सा च स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ज्ञानक्रिया बलक्रिया च । ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः । बलक्रिया स्वसंनिधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम् ॥ ८ ॥

है और वह स्वाभाविक ज्ञानबलक्रिया अर्थात् ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है । ज्ञानक्रिया—सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञानकी प्रवृत्ति और बलक्रिया—अपनी सन्निधिमात्रसे सबको वशमें करके नियमन करना ॥ ८ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

क्योंकि ऐसा है इसलिये—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

लोकमें उसका कोई स्वामी नहीं है, न कोई शासक या उसका चिह्न ही है । वह सबका कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीवका स्वामी है । उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है ॥ ९ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके । अत एव न तस्येशिता नियन्ता । नैव च तस्य लिङ्गं चिह्नं धूमस्थानीयं येनानुमीयेत । स कारणं सर्वस्य कारणम् । करणाधिपाधिपः परमेश्वरः । यस्मादेवं तस्मान्न तस्य कश्चिज्जनिता जनयिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

लोकमें उसका कोई स्वामी नहीं है, अतः उसका कोई ईशिता—नियन्ता भी नहीं है । उसका कोई लिङ्ग—धूमादिरूप चिह्न भी नहीं है, जिससे अनुमान किया जा सके । वह सबका कारण और करणाधिप—परमेश्वर है । क्योंकि ऐसा है, इसलिये उसका कोई जनिता—जनयिता अर्थात् उत्पत्तिकर्ता और स्वामी भी नहीं है ॥ ९ ॥

ब्रह्मसायुज्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना

इदानीं मन्त्रदृगभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते—

अब श्रुति मन्त्रद्रष्टा [ऋषियों] के अभिमत पदार्थके लिये प्रार्थना करती है—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् । स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

तन्तुओंसे मकड़ीके समान जिस एकमात्र देवने स्वभावतः ही प्रधान-जनित कार्योंसे अपनेको आवृत कर लिया है वह हमें ब्रह्मसे एकीभाव प्रदान करे ॥ १० ॥

यस्तन्तुनाभ इति । यथोर्णनाभिरात्मप्रभवैस्तन्तुभिरात्मानमेव समावृणोति तथा प्रधानजैरव्यक्तप्रभवैर्नामरूपकर्मभिस्तन्तुस्थानीयैः स्वमात्मानमावृणोत् सञ्छादितवान्स नो मह्यं ब्रह्मण्यप्ययं ब्रह्माप्ययमेकीभावं दधाद्दात्वित्यर्थः ॥ १० ॥

'यस्तन्तुनाभः' इत्यादि । जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे उत्पन्न हुए तन्तुओंसे अपनेहीको आवृत कर लेती है उसी प्रकार प्रधानज अर्थात् अव्यक्तसे उत्पन्न हुए तन्तुरूप नाम, रूप और कर्मोंसे जिसने अपनेको आच्छादित कर रखा है वह हमें ब्रह्ममें लय यानी एकीभाव प्रदान करे ॥ १० ॥

परमेश्वरके स्वरूपका निर्देश

पुनरपि तमेव करतलन्यस्तामलकवत्साक्षाद्दर्शयंस्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति मन्त्रद्वयेन—

फिर भी हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान उसीको साक्षात् रूपसे दिखाते हुए श्रुति दो मन्त्रोंद्वारा इस बातको प्रदर्शित करती है कि उसके विशेष ज्ञानसे ही परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, और किसीसे नहीं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है ॥ ११ ॥

एको देव इति । एकोऽद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वभूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु संवृतः । सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः । कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता । सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु वसतीत्यर्थः । सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा । "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा० सू० ५ । २ । ९१) इति स्मरणात् । चेता चेतयिता । केवलो निरुपाधिकः । निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः ॥ ११ ॥

'एको देवः' इत्यादि । सर्वभूतोंमें गूढ—समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ एक—अद्वितीय देव—प्रकाशनशील परमात्मा है । [वह] सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा अर्थात् सबका स्वरूपभूत कर्माध्यक्ष—समस्त प्राणियोंके किये हुए विभिन्न कर्मोंका अधिष्ठाता, सर्वभूताधिवास अर्थात् समस्त प्राणियोंमें निवास करनेवाला, समस्त भूतोंका साक्षी अर्थात् सर्वद्रष्टा है, क्योंकि "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस पाणिनिसूत्ररूप स्मृतिके अनुसार 'साक्षी' शब्दका अर्थ द्रष्टा है । तथा वह चेता—चेतनत्व प्रदान करनेवाला, केवल—उपाधिशून्य और निर्गुण—सत्त्वादि गुणरहित है ॥ ११ ॥

परमात्मज्ञानसे नित्यसुखकी प्राप्ति और मोक्ष

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस [देव] को जो मतिमान् देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं ॥ १२ ॥

एको वशीति । एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणां बहूनां जीवानाम् । सर्वा हि क्रिया नात्मनि समवेताः किन्तु देहेन्द्रियेषु । आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः कूटस्थः सन्ननात्मधर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलो मनुष्योऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्तेति । उक्तं च—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

'एको वशी' इत्यादि । जो एक वशी—स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीज—बीजस्थानीय भूतसूक्ष्मको अनेकरूप कर देता है उस आत्मस्थ—बुद्धिमें स्थित [देव] को जो धीर—बुद्धिमान् देखते हैं—साक्षात्‌रूपसे जान लेते हैं उन आत्मवेत्ताओंको नित्य सुख प्राप्त होता है, अन्य अनात्मज्ञोंको नहीं । [यहाँ जीवोंको निष्क्रिय इसलिये कहा है कि] सारी क्रियाओंका साक्षात् सम्बन्ध आत्मासे नहीं, अपि तु देह और इन्द्रियोंसे है । आत्मा तो निष्क्रिय, निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि गुणोंसे रहित और कूटस्थ होते हुए अपनेमें अनात्म-

अहंकारविमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो
गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः
सज्जन्ते गुणकर्मसु ॥"
(गीता ३ । २७--२९)
इति ।

एकं बीजं बीजस्थानीयं भूतसूक्ष्मं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति साक्षाज्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्तस्तेषामात्मविदां सुखं शाश्वतं नेतरेषामनात्मविदाम् ॥१२॥

धर्मोंका अध्यास करके ऐसा अभिमान करने लगता है कि मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, कृश, स्थूल, मनुष्य, अमुकका पुत्र अथवा इसका नाती हूँ इत्यादि । कहा भी है—"[हे अर्जुन !] सारे कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; अहङ्कारसे मोहित हुए पुरुष ऐसा मानने लगते हैं कि 'मैं कर्ता हूँ' । किन्तु हे महाबाहो ! जो गुण और कर्मके विभागका मर्मज्ञ है वह तो 'गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं' ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता, जो लोग प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हैं वे ही उन गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं" इत्यादि ॥ १२॥

किञ्च--

तथा--

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतोंको भोग प्रदान करता है, सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देवको जानकर [पुरुष] समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

नित्य इति । नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये तन्नित्यत्वेन तेषामपि नित्यत्वमित्यभिप्रायः । अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये । तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातॄणां मध्ये । एको बहूनां जीवानां यो विदधाति प्रयच्छति कामान्कामनिमित्तान्भोगान् । सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥१३॥

'नित्यः' इत्यादि । नित्य जीवोंके मध्यमें जो नित्य है, अभिप्राय यह कि उसके नित्यत्वसे ही उनका भी नित्यत्व है, अथवा पृथिवी आदि नित्योंमें जो नित्य है तथा चेतन प्रमाताओंमें जो चेतन है; जो अकेला ही बहुत-से जीवोंके काम—कामनिमित्तक भोगोंका विधान यानी दान करता है और सबके लिये सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य है, उस देव—प्रकाशस्वरूपको जानकर [पुरुष] समस्त पाशोंसे अर्थात् अविद्यादिसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

ब्रह्मके प्रकाशसे ही सबको प्रकाशकी प्राप्ति

कथं चेतनश्चेतनानाम् ? इत्युच्यते—

वह चेतनोंमें चेतन किस प्रकार है ? सो बतलाया जाता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १४॥

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कहाँ प्रकाशित हो सकता है ? ये सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होते हैं, उसीके प्रकाशसे ये सब प्रकाशित हैं ॥ १४ ॥

न तत्रेति । तत्र तस्मिन्परमात्मनि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो न भाति ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वात्मनो रूपजातं प्रकाशयति । न तु तस्य स्वतःप्रकाशनसामर्थ्यम् । तथा न चन्द्रतारकम् । नेमा विद्युतो भान्ति । कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः । किं बहुना यदिदं जगद्भाति तमेव स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा लोहादि वह्निं दहन्तमनुदहति न स्वतः । तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि भाति । उक्तं च – "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः", "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।" (गीता १५ । ६) इति ॥ १४ ॥

'न तत्र' इत्यादि । वहाँ—उस परमात्मामें, सबका प्रकाशक होनेपर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता; अर्थात् वह ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता । अपि तु वह उस सर्वात्मा ब्रह्मके प्रकाशसे ही सब रूपोंको प्रकाशित करता है; क्योंकि उसमें स्वयं प्रकाशित करनेका सामर्थ्य नहीं है । तथा न चन्द्र और तारे, एवं न विद्युत् ही वहाँ प्रकाशित होते हैं । फिर हमें दिखायी देनेवाला यह अग्नि तो प्रकाशित हो ही कैसे सकता है ? अधिक क्या, यह जो जगत् भास रहा है, स्वतःप्रकाशरूप होनेके कारण उस परमात्माके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित हो रहा है, जिस प्रकार लोहा आदि पदार्थ जलानेवाले अग्निके साथ ही [उसीकी शक्तिसे] जलाते हैं स्वतः नहीं । ये सब सूर्यादि उसके ही प्रकाश यानी दीप्तिसे प्रकाशित होते हैं । कहा भी है "जिसके तेजसे युक्त होकर सूर्य तपता है", "उसे न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही" इत्यादि ॥ १४ ॥

मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा अन्य हेतुओंका निषेध

ज्ञात्वा देवं मुच्यत इत्युक्तम्। कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येनेत्यत्राह—

ऊपर यह कहा है कि उस देवको जानकर मुक्त हो जाता है; अब यह बतलाते हैं कि उसीको जानकर क्यों मुक्त होता है, किसी और कारणसे क्यों नहीं होता ?

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस भुवनके मध्य एक हंस है वही जलमें (पञ्चमाहुतिरूप देहमें) स्थित अग्नि है। उसीको जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है। इससे भिन्न मोक्षप्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है॥ १५॥

एक इति। एकः परमात्मा हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति हंसो भुवनस्यास्य त्रैलोक्यस्य मध्ये नान्यः कश्चित्। कस्मात्? यस्मात्स एवाग्निः। अग्निरिवाग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। उक्तं च—"व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः" इति। सलिले देहात्मना परिणते। उक्तं च—"इति तु पञ्चम्यामाहु-

'एको' इत्यादि। एक परमात्मा, जो अविद्यादि बन्धनके कारणका हनन करता है इसलिये हंस है, इस भुवन—त्रिलोकीके मध्यमें स्थित है, और कोई नहीं। क्यों नहीं है ? क्योंकि वही अग्नि है—अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाला होनेसे वह अग्निके समान अग्नि है। कहा भी है—"ईश्वर आकाशातीत अग्नि है" इत्यादि। सलिलमें अर्थात् देहरूपमें परिणत हुए जलमें, जैसे कहा है—"इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें आप

तावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० उ० ५ । ९ । १) इति संनिविष्टः सम्यगात्मत्वेन निविष्टः । अथवा सलिले सलिल इव स्वच्छे यज्ञदानादिना विमलीकृतेऽन्तःकरणे संनिविष्टो वेदान्तवाक्यार्थसम्यग्ज्ञानफलकारूढोऽविद्यातत्कार्यस्य दाहक इत्यर्थः । तस्मात्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥

(जल) पुरुष नामवाला हो जाता है ।" सन्निविष्ट—आत्मभावसे सम्यग्रूपसे स्थित है । अथवा 'सलिले'—यज्ञदानादिद्वारा सलिल (जल) के समान स्वच्छ किये अन्तःकरणमें स्थित वेदान्तवाक्यार्थके सम्यग्ज्ञानके फलरूपसे अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाला [अग्नि]—ऐसा भी अर्थ हो सकता है । अतः उसीको जानकर पुरुष मृत्युके पार हो जाता है, मोक्षके लिये कोई और मार्ग नहीं है ॥ १५ ॥

परमेश्वरके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन

परमपदप्राप्तये पुनरपि तमेव विशेषतो दर्शयति—

परमपदकी प्राप्तिके लिये श्रुति फिर भी उसीको विशेषरूपसे प्रदर्शित करती है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

वह विश्वका कर्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि (स्वयम्भू), ज्ञाता, कालका प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सम्पूर्ण विद्याओंका आश्रय है । तथा वही प्रधान और पुरुषका अध्यक्ष, गुणोंका नियामक एवं संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है ॥ १६ ॥

स विश्वकृदिति । स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता । विश्वं वेत्तीति विश्ववित् । आत्मा चासौ योनिश्चेत्यात्मयोनिः । जानातीति ज्ञः । सर्वस्यात्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थः । कालकारः कालस्य कर्ता गुण्यपहतपाप्मादिमान्विश्वविदित्यस्य प्रपञ्चः । प्रधानमव्यक्तम् । क्षेत्रज्ञो विज्ञानात्मा । तयोः पतिः पालयिता । गुणानां सत्त्वरजस्तमसामीशः । संसारमोक्षस्थितिबन्धानां हेतुः कारणम् ॥१६॥

'स विश्वकृत्' इत्यादि । वह विश्वकृत्–विश्वका कर्ता है, विश्वको जानता है–इसलिये विश्ववेत्ता है, आत्मा और योनि है इसलिये आत्मयोनि है, जानता है इसलिये ज्ञ है। तात्पर्य यह है कि वह सबका आत्मा, सबका योनि (उत्पत्तिस्थान) और सर्वज्ञ अर्थात् चैतन्यज्योति है । तथा कालकार—कालका कर्ता और गुणी—अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् है । यह सब 'विश्ववित्' इस विशेषणका विस्तार है । [इसके सिवा] वही प्रधान–अव्यक्त और क्षेत्रज्ञ--विज्ञानात्मा, इन दोनोंका पति--पालन करनेवाला, सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंका नियामक तथा संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु यानी कारण है ॥ १६ ॥

किञ्च— | तथा—

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥

वह तन्मय (जगद्रूप अथवा ज्योतिर्मय), अमरणधर्मा, ईश्वररूपसे स्थित, ज्ञाता, सर्वगत और इस भुवनका रक्षक है, जो सर्वदा इस जगत्का

शासन करता है; क्योंकि इसका शासन करनेके लिये कोई और समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

स तन्मय इति । स तन्मयो विश्वात्मा । अथवा तन्मयो ज्योतिर्मय इति 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्येतदपेक्षयोच्यते । अमृतोऽमरणधर्मा । ईशे स्वामिनि सम्यक्स्थितिर्यस्यासावीशसंस्थः । जानातीति ज्ञः । सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः । भुवनस्यास्य गोप्ता पालयिता । य ईश ईष्टेऽस्य जगतो नित्यमेव नियमेन नान्यो हेतुः समर्थो विद्यत ईशनाय जगदीशनाय ॥ १७ ॥

'स तन्मयो' इत्यादि । वह तन्मय अर्थात् विश्वरूप है । अथवा 'उसके प्रकाशसे वह सब प्रकाशित है' इस उक्तिकी अपेक्षासे 'तन्मय' शब्दसे ज्योतिर्मय भी कहा जा सकता है । अमृत—अमरणधर्मा, ईश यानी ईश्वरभावमें जिसकी सम्यक् स्थिति है अतः वह ईशसंस्थ है, जानता है इसलिये ज्ञ है, सर्वत्र जाता है इसलिये सर्वग है, इस भुवनका गोप्ता यानी पालनकर्ता है, जो इस जगत्‌को नित्य--नियमसे शासित करता है, क्योंकि जगत्‌के शासनके लिये कोई और हेतु--समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

मुमुक्षुके लिये भगवच्छरणागतिका उपदेश

यस्मात्स एव संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुस्तस्मात्तमेव मुमुक्षुः सर्वात्मना शरणं प्रपद्येत गच्छेदिति प्रतिपादयितुमाह—

क्योंकि वही संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है इसलिये मुमुक्षु पुरुषको सब प्रकार उसीकी शरणमें जाना चाहिये—यह प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ ॥ १८ ॥

यो ब्रह्माणमिति । यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान्पूर्वं सर्गादौ । यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह हशब्दोऽवधारणे । तमेव परमात्मानम् । उक्तं च—

"तमेव धीरो विज्ञाय
प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दा-
न्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥"

(बृ० उ० ४ । ४ । २१)

"तमेवैकं जानथात्मानम्" (मु० उ० २ । २ । ५) इति च । देवं ज्योतिर्मयम् । आत्मनि या बुद्धिस्तस्याः प्रसादकरम् । प्रसन्ने हि परमेश्वरे बुद्धिरपि तद्विषया प्रमा निष्प्रपञ्चाकार-ब्रह्मात्मनावतिष्ठते वर्तते । आत्म-बुद्धिप्रकाशमित्यन्येऽधीयते । आत्मबुद्धिं प्रकाशयतीत्यात्मबुद्धि-प्रकाशम् । अथवात्मैव बुद्धि-

'यो ब्रह्माणम्' इत्यादि । जिसने पहले अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्मा—हिरण्यगर्भको रचा है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है । 'तं ह' यहाँ 'ह' शब्द निश्चयार्थक है, अर्थात् उसी परमात्माको । कहा भी है—"बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता उसीको जानकर उसीमें मनोनिवेश करे, बहुत-से शब्दों—शास्त्रोंको न पढ़े, क्योंकि वह तो वाणीको पीडित करना ही है' तथा "उसी एक आत्माको जानो" इत्यादि । देव—ज्योतिर्मय । अपनेमें जो बुद्धि है उसका प्रसाद (विकास) करनेवाले[1] क्योंकि परमेश्वरके प्रसन्न होनेपर बुद्धि यानी परमेश्वरविषयिणी प्रमा भी निष्प्रपञ्च ब्रह्माकारसे स्थित हो जाती है । दूसरे लोग यहाँ 'आत्म-बुद्धिप्रकाशम्' ऐसा पाठ मानते हैं । [तब यह अर्थ होगा—] अपनी बुद्धिको प्रकाशित करता है इसलिये जो आत्मबुद्धिप्रकाश है; अथवा आत्मा ही बुद्धि है,

१. यह व्याख्या 'आत्मबुद्धिप्रसादं' पाठ मानकर की गयी है ।

रात्मबुद्धिः सैव प्रकाशोऽस्येत्या-त्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै वैशब्दोऽवधारणे मुमुक्षुरेव सन्न फलान्तरमिच्छन्शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

वही जिसका प्रकाश है उस आत्मबुद्धिप्रकाशकी मैं मुमुक्षु—यहाँ 'वै' शब्द निश्चयार्थक है [अतः तात्पर्य यह है कि] मुमुक्षु होकर ही शरण लेता हूँ, किसी अन्य फलकी इच्छा करता हुआ नहीं ॥ १८ ॥

एवं तावत्सृष्ट्यादिना यल्लक्ष्यं स्वरूपं दर्शितम्, अथेदानीं तत्स्वरूपेण दर्शयति—

इस प्रकार यहाँतक सृष्टि आदि कार्यसे लक्षित होनेवाले जिस स्वरूपका वर्णन किया है उसीको अब साक्षात्स्वरूपसे प्रदर्शित करते हैं—

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ १९॥

जो कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, अनिन्द्य, निर्लेप, अमृतत्वका उत्कृष्ट सेतु और जिसका ईंधन जल चुका है उस [धूमादिशून्य] अग्निके समान [देदीप्यमान] है [उस देवकी मैं शरण लेता हूँ] ॥१९॥

निष्कलमिति । कला अवयवा निर्गता यस्मात्तं निष्कलं निरवयवमित्यर्थः । निष्क्रियं स्वमहिमप्रतिष्ठितं कूटस्थमित्यर्थः । शान्तमुपसंहृतसर्वविकारम् । निरवद्यमगर्हणीयम् । निरञ्जनं निर्लेपम् । अमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य

'निष्कलम्' इत्यादि । जिससे कला यानी अवयव निकल गये हैं उस निष्कल अर्थात् निरवयव, निष्क्रिय—अपनी महिमामें स्थित अर्थात् कूटस्थ, शान्त—जिसके सब विकारोंका अन्त हो गया है, निरवद्य—अनिन्द्य, निरञ्जन—निर्लेप, अमृत यानी अमृतत्व—मोक्षकी प्राप्ति-

प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरुत्तारणोपायत्वात्तम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनानलमिव देदीप्यमानं झटझटायमानम् ॥ १९ ॥

के लिये जो सेतुके समान सेतु है, क्योंकि वह संसार-सागरसे पार होनेका साधन है, उस अमृतत्वके परमसेतु तथा जिसका ईंधन जल गया है उस अग्निके समान देदीप्यमान—जगमगाते हुए [देवकी मैं शरण लेता हूँ] ॥ १९ ॥

परमात्मज्ञानके बिना दुःख-निवृत्तिकी असम्भावना

किमिति तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येन ? इति तत्राह—

तो क्या उसीको जानकर पुरुष मुक्त होता है किसी और साधनसे नहीं ? इसपर कहते हैं—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

जिस समय लोग चमड़ेके समान आकाशको लपेट लेंगे उस समय उस देवको न जानकर भी दुःखका अन्त हो जायगा* ॥ २० ॥

यदेति । यदा यद्वच्चर्म सङ्कोचयिष्यति तद्वदाकाशममूर्तं व्यापिनं यदि वेष्टयिष्यन्ति संवेष्टयिष्यन्ति मानवास्तदा देवं ज्योतिर्मयमनुदितानस्तमितज्ञानात्मना-

'यदा' इत्यादि । जिस समय, जैसे कोई [फैले हुए] चमड़ेको लपेट ले उसी प्रकार यदि अमूर्त और व्यापक आकाशको भी मनुष्य सम्यक् प्रकारसे लपेट लें, उस समय देव यानी ज्योतिर्मय—उदय-अस्तसे

* तात्पर्य यह है कि परमात्माको बिना जाने दुःखका अन्त होना ऐसा ही असम्भव है जैसा कि विभु और अमूर्त आकाशको परिच्छिन्न एवं मूर्त्तस्वरूप चर्मके समान लपेटना ।

वस्थितमशनायाद्यसंस्पृष्टं परमात्मानमविज्ञाय दुःखस्याध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्यान्तो विनाशो भविष्यति । आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य ।

यावत्परमात्मानमात्मत्वेन न जानाति तावत्तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः कृष्यमाणः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वज एव जीवभावमापन्नो मोमुह्यमानः संसरति । यदा पुनरपूर्वमनपरं नेति नेतीत्यादिलक्षणमशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं पूर्णानन्दं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यः पूर्णानन्दो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं
तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं
येषां नाशितमात्मनः ।

रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित क्षुधादिसे असंस्पृष्ट परमात्माको बिना जाने भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखका अन्त—विनाश हो जायगा; क्योंकि आत्माके अज्ञानसे ही संसारकी स्थिति है ।

तात्पर्य यह है कि जबतक पुरुष परमात्माको आत्मस्वरूपसे नहीं जानता तबतक वह अजन्मा होनेपर भी तापत्रयसे अभिभूत हो मकरादिके समान रागादिद्वारा इधर-उधर खींचा जाता हुआ प्रेत, तिर्यक् एवं मनुष्यादि योनियोंमें जीवभावको प्राप्त हो अत्यन्त मोहवश संसारमें भटकता रहता है । किन्तु जिस समय वह कारण-कार्यभावसे रहित, नेति-नेति आदि वाक्यद्वारा लक्षित, क्षुधादिसे असंस्पृष्ट, उदय-अस्तसे रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित पूर्णानन्दमय परमात्माको साक्षात् आत्मस्वरूपसे जानता है उस समय अज्ञान और उसके कार्यसे छूटकर पूर्णानन्दमय हो जाता है । कहा भी है—

"ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीसे जीव मोहमें पड़ते हैं । जिन्होंने ज्ञानके द्वारा अपने अज्ञानको नष्ट कर दिया है उनके प्रति वह

तेषामादित्यवज्ज्ञानं
प्रकाशयति तत्परम् ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मान-
स्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं
ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥"
(गीता ५ । १५-१७)
॥ २० ॥

ज्ञान [समस्त रूपमात्रको प्रकाशित करनेवाले] सूर्यके समान उस ज्ञेय परमार्थतत्त्वको प्रकाशित कर देता है। उस परमज्ञानमें ही जिनकी बुद्धि लगी हुई है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही जिनका आत्मा है, उस ब्रह्ममें जिनकी दृढ़ निष्ठा है और जो उसीके परायण [अर्थात् आत्मरति] हैं वे ज्ञानद्वारा समस्त दोषोंसे मुक्त हो अपुनरावृत्तिको प्राप्त हो जाते हैं" ॥२०॥

श्वेताश्वतर-विद्याका सम्प्रदाय तथा इसके अधिकारी

सम्प्रदायपरम्परया ब्रह्मविद्याया मोक्षप्रदत्वं प्रदर्शयितुं सम्प्रदायं विद्याधिकारिणं च दर्शयति—

सम्प्रदायपरम्पराके द्वारा ब्रह्मविद्याका मोक्षप्रदत्व प्रदर्शित करनेके लिये श्रुति इसके सम्प्रदाय और इस विद्याके अधिकारीको प्रदर्शित करती है —

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥ २१ ॥

श्वेताश्वतर ऋषिने तपोबल और परमात्माकी प्रसन्नतासे उस प्रसिद्ध ब्रह्मको जाना और ऋषिसमुदायसे सेवित इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वका सम्यक् प्रकारसे परमहंस संन्यासियोंको उपदेश किया ॥ २१ ॥

तपःप्रभावादिति । तपसः कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणस्य, तत्र तपःशब्दस्य रूढत्वात् । नित्यादीनां विधिवदनुष्ठितानां कर्मणामुपलक्षणमिदम्ः "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात् । तस्य च सर्वस्य तपसस्तस्मिञ्श्वेताश्वतरे नियमेन सत्त्वात्तत्प्रभावात्तत्सामर्थ्याद्देवप्रसादाच्च कैवल्यमुद्दिश्य तदधिकारसिद्धये बहुजन्मसु सम्यगाराधितपरमेश्वरस्य प्रसादाच्च ब्रह्मापरिच्छिन्नमहत्त्वम् । ह इति प्रसिद्धिद्योतनार्थः । श्वेताश्वतरो नाम ऋषिर्विद्वान्यथोक्तं ब्रह्म परम्पराप्राप्तं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा मनननिदिध्यासनादरनैरन्तर्यसत्कारादिभिर्ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृताखण्डसाक्षात्कारवान् ।

'तपःप्रभावात्' इत्यादि। 'तपसः' अर्थात् कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूप तपके [प्रभावसे], क्योंकि उसीमें 'तप' शब्द रूढ है । यह विधिवत् अनुष्ठान किये हुए नित्यादि कर्मोंका उपलक्षण है, क्योंकि "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है" ऐसा स्मृतिवाक्य है । वह सम्पूर्ण तप श्वेताश्वतर ऋषिमें नियमसे होनेके कारण उसके प्रभाव यानी सामर्थ्यसे तथा भगवान्की कृपासे---कैवल्यपदके उद्देश्यसे उसका अधिकार प्राप्त करनेके लिये अनेकों जन्मपर्यन्त सम्यक् प्रकारसे आराधना किये हुए परमेश्वरकी प्रसन्नतासे जिसकी महिमाकी कोई सीमा नहीं है, उस ब्रह्मको---यहाँ 'ह' शब्द प्रसिद्धिका द्योतक है---श्वेताश्वतरनामक ऋषिने जाना अर्थात् यथावत्रूपसे वर्णन किये हुए परम्परागत ब्रह्मतत्त्वको गुरुदेवके मुखसे श्रवण कर मनन, निदिध्यासन, आदर (श्रद्धा), निरन्तर अभ्यास एवं सत्कारादिके द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष किया अर्थात् अखण्डवृत्तिसे उसका साक्षात्कार किया ।

अथ स्वानुभवदार्ढ्यानन्तरमत्याश्रमिभ्यः। "अतिः पूजायाम्" इति स्मरणादत्यन्तं पूज्यतमाश्रमिभ्यःसाधनचतुष्टयसम्पत्तिमहिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि जीवनभोगादिष्वनास्थावद्भ्यः। अत एव वैराग्यपुष्कलवद्भ्यः। तदुक्तम्--

"वैराग्यं पुष्कलं न स्या-
न्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्।
तस्माद्रक्षेत विरतिं
बुधो यत्नेन सर्वदा॥"

इति। स्मृत्यन्तरे च—

"यदा मनसि वैराग्यं
जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वा-
नन्यथा पतितो भवेत्॥"

इति। परमहंससंन्यासिनस्त एवात्याश्रमिणः। तथा च श्रूयते—"न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत्" (म० ना० ७८) इति।

"चतुर्विधा भिक्षवश्च
बहूदककुटीचकौ।

फिर अपना अनुभव दृढ़ करनेके पश्चात् उसे अत्याश्रमियोंको—"अति-शब्द पूजार्थक है" ऐसी स्मृति होनेके कारण अत्यन्त पूजनीय आश्रमवालोंको अर्थात् साधनचतुष्टय-की पूर्णताके प्रभावसे जिनकी अपने शरीरादि तथा जीवन और भोगादिमें भी आस्था नहीं थी उनको, अतः पूर्ण वैराग्यवानोंको [इसका उपदेश किया]। ऐसा ही कहा भी है—"यदि पूर्ण वैराग्य न हो तो ब्रह्मज्ञान निष्फल है, अतः बुद्धिमान् पुरुषको सर्वदा प्रयत्नपूर्वक वैराग्यकी रक्षा करनी चाहिये।" तथा दूसरी स्मृतिमें कहा है—"जिस समय मनमें समस्त वस्तुओंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय विद्वान्‌को संन्यास ग्रहण करना चाहिये, नहीं तो उसका पतन हो जायगा।" इस प्रकार जो परमहंस संन्यासी हैं वे ही अत्याश्रमी हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"न्यास ही ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही पर (परब्रह्म) है, पर ही ब्रह्मा है। ये सब तप निकृष्ट हैं, संन्यास ही सबसे बड़ा है" इत्यादि; तथा "बहूदक, कुटीचक, हंस और परमहंस—ये चार प्रकारके भिक्षु हैं, इनमें जो-जो

हंसः परमहंसश्च

यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥"

इति स्मरणाच्च । तेभ्योऽत्याश्रमिभ्यः परमं प्रकृतं ब्रह्म तदेव परममुत्कृष्टतमं निरस्तसमस्ताविद्यातत्कार्यनिरतिशयसुखैकरसं पवित्रं शुद्धं प्रकृतिप्राकृतादिमलविनिर्मुक्तम् । ऋषिसंघजुष्टं वामदेवसनकादीनां संघैः समूहैर्जुष्टं सेवितमात्मत्वेन सम्यक्परिभावितं प्रियतमानन्दत्वेनाश्रितम्; "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह० उ० ४ । ५ । ६) इति श्रुतेः । सम्यगात्मतयापरोक्षीकृतं यथा भवति तथा । सम्यगित्यस्य काकाक्षिन्यायेनोभयत्रानुषङ्गः कर्तव्यः । प्रोवाचोक्तवान् ॥ २१ ॥

पीछेवाला है वह-वह उत्तरोत्तर उत्तम है" ऐसी स्मृति भी है । उन अत्याश्रमियोंको उस प्रकृत परब्रह्मका अर्थात् उस उत्कृष्टतम—सम्पूर्ण अविद्या और उसके कार्यसे रहित निरतिशय-सुखैकरसस्वरूप पवित्र—शुद्ध यानी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य आदि मलसे रहित ब्रह्मका, जो ऋषिसंघजुष्ट यानी वामदेव एवं सनकादि ऋषियोंके समूहसे जुष्ट—सेवित अर्थात् आत्मभावसे सम्यक् प्रकारसे भावना किया हुआ यानी प्रियतम आनन्दरूपसे आश्रित है, क्योंकि श्रुति भी कहती है "आत्माके लिये ही सब कुछ प्रिय होता है," [अतः ऐसे ब्रह्मका] जिस प्रकार वह आत्मस्वरूपसे पूर्णतया प्रत्यक्ष हो सके उस प्रकार उपदेश किया । श्रुतिके 'सम्यक्' पदका काकाक्षिन्यायसे 'प्रोवाच' और 'जुष्टम्' दोनों पदोंके साथ सम्बन्ध समझना चाहिये ॥ २१ ॥

अनधिकारीके प्रति विद्योपदेशका निषेध

यथोक्तशिष्यपरीक्षणपूर्वकं विद्या वक्तव्या तद्विहाय तदुक्तौ

इस विद्याका उपर्युक्त प्रकारके शिष्यकी परीक्षा करके उपदेश करना चाहिये । उसे छोड़-

दोषं विद्याया वैदिकत्वं गुप्तत्वं सम्प्रदायपरम्परया प्रतिपादितत्वं चाह--

कर इसका उपदेश करनेमें दोष, विद्याका वैदिकत्व, गुह्यत्व और सम्प्रदायपरम्पराद्वारा प्रतिपादित होना श्रुति बतलाती है—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥ २ २॥

उपनिषदोंमें परम गुह्य इस विद्याका पूर्वकल्पमें उपदेश किया गया था। जिसका चित्त अत्यन्त शान्त (रागादिमलरहित) न हो उस पुरुषको तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसको इसे नहीं देना चाहिये ॥२२॥

वेदान्त इति । वेदान्त इति जात्येकवचनम् । सकलासूपनिषत्स्विति यावत् । परमं परमपुरुषार्थस्वरूपं गुह्यं गोप्यानामपि गोप्यतमं पुराकल्पे प्रचोदितं पूर्वकल्पे चोदितमुपदिष्टमिति सम्प्रदायप्रदर्शनं कृतमित्येतत् । प्रशान्ताय पुत्राय प्रकर्षेण शान्तं सकलरागादिमलरहितं चित्तं यस्य तस्मै पुत्राय तादृशशिष्याय वा दातव्यं वक्तव्यमिति यावत् । तद्विपरीतायापुत्रायाशिष्याय वा स्नेहादिना ब्रह्मविद्या न वक्तव्या ।

'वेदान्ते' इत्यादि । 'वेदान्ते' इसमें जातिमें एकवचन है, अर्थात् सभी उपनिषदोंमें, परम—परमपुरुषार्थरूप, गुह्य—गोपनीयोंमें भी सबसे अधिक गोप्य [यह विद्या] पुराकल्पे—पूर्वकल्पमें प्रचोदित हुई—उपदेश की गयी थी । इस प्रकार इसका सम्प्रदायप्रदर्शन किया गया । प्रशान्त पुत्रको अर्थात् जिसका चित्त प्रकर्षसे—विशेषरूपसे शान्त यानी रागादि सम्पूर्ण मलोंसे रहित हो, उस पुत्रको या ऐसे ही गुणोंवाले शिष्यको इसे देना यानी उपदेश करना चाहिये । इससे विपरीत स्वभाववालेको तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उसे केवल स्नेहादिके कारण ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करना

अन्यथा प्रत्यवायापत्तिरिति पुनः-शब्दार्थः ।

अत एव ब्रह्मविद्याविवक्षुणा गुरुणा चिरकालं परीक्ष्य शिष्य-गुणाञ्ज्ञात्वा ब्रह्मविद्या वक्तव्येति भावः । तथा च श्रुतिः—"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" (प्र० उ० १ । २) इति । श्रुत्यन्तरे च—"एकशतं ह वै वर्षाणि प्रजापतौ मघवान्ब्रह्मचर्यमुवास" (छा० उ० ८ । ११ । ३) इति च । एतच्च बहुधा प्रपञ्चितमुपदेश-साहस्रिकायामित्यत्र संकोचः कृतः ॥ २२ ॥

चाहिये ।* नहीं तो प्रत्यवाय (पाप) लगता है—यह 'पुनः' शब्दका तात्पर्य है ।

इसलिये जो गुरु ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहे उसे बहुत समयतक परीक्षा करके शिष्यके गुणोंको जानकर इसका उपदेश करना चाहिये—ऐसा इसका भाव है । ऐसी ही यह श्रुति भी है—"फिर एक सालतक तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक तुम यहाँ वास करो ।" तथा एक अन्य श्रुतिमें कहा है—"इन्द्रने प्रजापति-के यहाँ एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए निवास किया" इत्यादि । इस प्रसंगका उपदेशसाहस्रीमें अनेक प्रकारसे विस्तृत वर्णन किया है, इसलिये यहाँ संक्षेपसे कह दिया है ॥२२॥

परमेश्वर और गुरुमें श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले शिष्यके प्रति किये गये उपदेशकी सफलता

अत्रापि देवतागुरुभक्तिमता-

अब श्रुति यह दिखलाती है कि यहाँ भी देवता और गुरुकी भक्ति-

* शिष्य और पुत्रके प्रति ही ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेकी विधिका रहस्य यही जान पड़ता है कि जिसे उपदेश किया जाय उसकी उपदेशकके प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये और ऐसी श्रद्धा केवल पुत्र या शिष्यकी ही हो सकती है । इसलिये वे ही इसके उपदेशके अधिकारी हैं ।

मेव गुरुणा प्रकाशिता विद्यानुभवाय भवतीति प्रदर्शयति—

युक्त पुरुषोंके प्रति प्रकाशित की हुई विद्या ही अनुभवकी प्राप्ति करानेवाली होती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २ ३॥

जिसकी परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वरमें है वैसी ही गुरुमें भी है उस महात्माके प्रति कहनेपर ही इन तत्त्वोंका प्रकाश होता है ॥ २३ ॥

यस्येति । यस्य पुरुषस्याधिकारिणो देवे इयता प्रबन्धेन दर्शिताखण्डैकरसे सच्चिदानन्दपरज्योतिःस्वरूपिणि परमेश्वरे परोत्कृष्टा निरुपचरिता भक्तिः । एतदुपलक्षणम् । अचाञ्चल्यं श्रद्धा चोभे यथा तथा ब्रह्मविद्योपदेष्टरि गुरावपि तदुभयं यस्य वर्तते तस्य तप्तशिरसो जलराश्यन्वेषणं विहाय यथा साधनान्तरं नास्ति यथा च बुभुक्षितस्य भोजनादन्यत्र साधनान्तरं न,

'यस्य' इत्यादि । जिस अधिकारी पुरुषकी देवमें——यहाँतकके ग्रन्थद्वारा वर्णन किये हुए अखण्डैकरस सच्चिदानन्द परमज्योतिःस्वरूप परमेश्वरमें परा—उत्कृष्टा यानी अकृत्रिमा भक्ति है, यह [अचञ्चलता और श्रद्धाका भी] उपलक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिसकी भगवान्के प्रति जैसी निश्चलता और श्रद्धा है वैसी ही ये दोनों ब्रह्मवेत्ता गुरुके प्रति भी हैं उसके लिये, जैसे तपे हुए मस्तकवाले पुरुषके लिये जलाशयको खोजनेके सिवा और कोई उपाय नहीं है तथा क्षुधातुर पुरुषको भोजनके सिवा और कोई उसकी शान्तिका साधन नहीं है

एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लभेति तत्त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मन उत्तमस्यैते कथिता अस्यां श्वेताश्वतरोपनिषदि श्वेताश्वतरेण महात्मना कविनोपदिष्टा अर्थाः प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति । द्विर्वचनं मुख्यशिष्यतत्साधनादिदुर्लभत्वप्रदर्शनार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थमादरार्थश्च ॥ २३ ॥

उसी प्रकार गुरुकृपाके बिना ब्रह्मविद्याका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है यह सोचकर जिसे ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये अत्यन्त उतावली लगी हुई है उस मुख्याधिकारी उत्तम महात्माको ही ये कथित—इस श्वेताश्वतरोपनिषद्में महात्मा श्वेताश्वतरद्वारा उपदेश किये हुए तत्त्व प्रकाशित अर्थात् स्वानुभवके विषय होते हैं। 'प्रकाशन्ते महात्मनः' इन पदोंकी द्विरुक्ति मुख्य शिष्य और उसके साधनोंकी दुर्लभता प्रदर्शित करनेके लिये, अध्यायकी समाप्तिके लिये तथा आदरके लिये है ॥२३॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम् ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीत-
मस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	मं०	पृष्ठ
अजात इत्येवं कश्चित्	...	४	२१	२१२
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा	...	३	१३	१७६
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता	...	३	१९	१८२
अग्निर्यत्राभिमथ्यते	...	२	६	१४३
अणोरणीयान्महतो महीयान्	...	३	२०	१८३
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये	...	५	१३	२२९
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्	...	४	५	१८९
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः	...	५	८	२२४
आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः	...	६	५	२३६
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि	...	६	४	२३४
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म	...	१	७	१०१
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्	...	४	८	१९४
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्	...	६	१२	२४४
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्	...	१	१२	१२७
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः	...	६	११	२४३
एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः	...	२	१६	१६१
एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्	...	५	३	२१८
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः	...	३	२	१६४
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा	...	४	१७	२०६
एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये	...	६	१५	२४८
ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति	...	१	१	६८
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा	...	१	२	७१
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता	...	५	७	२२३
घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मम्	...	४	१६	२०५
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि	...	४	९	१९५
तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्	...	६	७	२३९
तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम्	...	५	६	२२१
तदेवाग्निस्तदादित्यः	...	४	२	१८७
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्	...	३	१०	१७४

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तम्	...	३	७	१७१
तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तम्	...	१	४	८६
तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयः	...	६	३	२३३
तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म	...	६	२१	२५६
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः	...	१	१५	१३२
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्	...	१	३	७४
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	...	४	३	१८८
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	...	४	६	१९०
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते	...	५	१	२१५
नवद्वारे पुरे देही	...	३	१८	१८१
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य	...	४	२०	२११
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते	...	६	८	२४०
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्	...	६	१४	२४६
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके	...	६	९	२४१
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्	...	६	१३	२४५
निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्	...	६	१९	२५३
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः	...	४	४	१८८
नीहारधूमार्कानिलानलानाम्	...	२	११	१५५
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चम्	...	४	१९	२१०
नैव स्त्री न पुमानेषः	...	५	१०	२२५
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्राम्	...	१	५	९६
पुरुष एवेदꣳ सर्वम्	...	३	१५	१७८
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः	...	२	९	१५३
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते	...	२	१२	१५७
भावग्राह्यमनीडाख्यम्	...	५	१४	२२९
महान्प्रभुर्वै पुरुषः	...	३	१२	१७५
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	...	४	१०	१९७
मा नस्तोके तनये मा	...	४	२२	२१३
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वम्	...	२	१५	१६०
य एको जालवानीशत ईशनीभिः	...	३	१	१६३
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्	...	३	९	१७३
य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्	...	४	१	१८६
यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिः	...	४	१८	२०८

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः	...	५	५	२२१
यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः	...	६	१०	२४२
यदा चर्मवदाकाशम्	...	६	२०	२५४
यस्य देवे परा भक्तिः	...	६	२३	२६२
यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तम्	...	२	१४	१५८
या ते रुद्र शिवा तनू०	...	३	५	१६९
यामिषु गिरिशन्त हस्ते	...	३	६	१७०
युञ्जते मन उत युञ्जते	...	२	४	१४०
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम्	...	२	५	१४१
युञ्जानः प्रथमं मनः	...	२	१	१३६
युक्तेन मनसा वयं देवस्य	...	२	२	१३७
युक्त्वाय मनसा देवान्	...	२	३	१३९
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम्	...	६	२	२३२
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	...	३	४	१६८
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः	...	४	११	१९८
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	...	४	१२	२००
यो देवानामधिपो यस्मिन्	...	४	१३	२०१
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः	...	५	२	२१६
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	...	६	१८	२५१
यो देवो अग्नौ यो अप्सु	...	२	१७	१६२
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वम्	...	२	१३	१५७
वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः	...	१	१३	१३०
वालाग्रशतभागस्य	...	५	९	२२५
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः	...	३	३	१६६
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	...	३	८	१७२
वेदाहमेतमजरं पुराणम्	...	३	२१	१८४
वेदान्ते परमं गुह्यम्	...	६	२२	२६०
स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थः	...	६	१७	२५०
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः	...	६	१६	२४९
स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यः	...	६	६	२३८
सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः	...	५	११	२२६
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्	...	५	४	२१९
स एव काले भुवनस्य गोप्ता	...	४	१५	२०३

सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	...	३	१७	१८०
सर्वतःपाणिपादं तत्	...	३	१६	१७९
सहस्रशीर्षा पुरुषः	...	३	१४	१७७
समे शुचौ शर्करावह्निवालुका०	...	२	१०	१५४
सवित्रा प्रसवेन जुषेत	...	२	७	१४६
सर्वाननशिरोग्रीवः	...	३	११	१७४
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः	...	४	७	१९२
सर्वव्यापिनमात्मानम्	...	१	१६	१३४
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते	...	१	६	९८
सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये	...	४	१४	२०२
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च	...	१	८	१०७
स्वदेहमरणिं कृत्वा	...	१	१४	१३२
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव	...	५	१२	२२७
स्वभावमेके कवयो वदन्ति	...	६	१	२३१
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः	...	१	१०	११९
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ	...	१	९	११३
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः	...	१	११	१२०
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्	...	२	८	१४७